THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

आधुनिकता और राष्ट्रीयता

डॉ. राजमल बोरा
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
मराठवाडा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)

● © राजमल बोरा

● **प्रकाशक :**
नमिता प्रकाशन
६, आनंद नगर, टाउन ह़ॉल
औरंगाबाद (महाराष्ट्र).

● **प्रथम संस्करण १९७३**

● **मूल्य :** ६ रु. ५० पै.

● **मुद्रक :**
ज. रा. बर्दापूरकर
व्यवस्थापक,
जयहिंद प्रिंटिंग प्रेस,
सन्मित्र कॉलनी, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)

● **आवरण-सज्जा :**
गोविंद सीताराम दैठणकर

प्रिय अनुज
तेजमल बोरा को

□ आमुख

□ आधुनिकता

५ ● समकालीन इतिहास-बोध

१५ ● विचार-स्वातंत्र्य

२१ ● सत्य

३३ ● नैतिकता

□ राष्ट्रीयता

४३ ● आधार

५१ ● धर्म और मूल्य

६५ ● साहित्य

७३ ● इतिहास

८९ ● समस्याएँ

आमुख

आधुनिकता और राष्ट्रीयता दोनों ही आज मानवीय मूल्यों को अपरिहार्य रूप में प्रभावित कर रहे हैं। इनके कारण हमारी आस्थाएं हिल गई हैं तथा जीवन में आतंक का बोध व्याप्त है। अपने परिप्रेक्ष्य में मैंने इन कारणों पर विचार किया है। समय–समय पर कुछ पत्रिकाओं ने भी माँग की, जिसके कारण यह कार्य स्फुट रूप में होता रहा है। सन् १९६३ ई० से सन् १९७२ ई० तक लगभग नौ वर्षों में यह पुस्तक लिखी जाती रही है। पुस्तक के प्रकाशित निबन्धों का उल्लेख यथास्थान किया गया है। इस सारी सामग्री का मैंने पुनरावलोकन किया है तथा आवश्यक संशोधन भी। इस पर भी ये निबन्ध समय के अन्तराल से लिखे जाने के कारण काल बोध का प्रभाव पुस्तक पर है, जिससे मुक्त होना मेरे लिए संभव नहीं। बर्ट्रेंड रसेल ने मुझे आधुनिक जगत को समझने में सहायता दी है। इसी का परिणाम है कि मैंने समस्याओं पर नकारात्मक ढंग से सोचने के स्थान पर सकारात्मक ढंग से सोचने का प्रयास किया है। इस प्रयास में मुझे कितनी सफलता मिली, यह मैं विज्ञ पाठकों पर छोड़ता हूँ।

१५ मार्च १९७३. **राजमल बोरा**

आधुनिकता

समकालीन इतिहास-बोध

समकालीन इतिहास-बोध

इन दिनों आधुनिकता की चर्चा विस्तृत रूप में की जा रही है। इस चर्चा से इतना लाभ अवश्य हो रहा है कि हमारी दृष्टि वर्तमान पर केन्द्रित हो रही है और साथ ही हम अपने अतीत को वर्तमान के संदर्भ में देख रहे हैं या परख रहे हैं। यह आवश्यक भी है। आधुनिकता, देश एवं कालसापेक्ष होते हुए भी एक बात तो निश्चित रूप में उसमें है— आधुनिकता में — वर्तमान का बोध। दूसरे शब्दों में इसे हम समकालीन इतिहास–बोध कह सकते हैं। आज की पीढ़ी के लेखक इस बोध को व्यक्त करना चाह रहे हैं। एक समय था जब हम वर्तमान को आदर्श नहीं मानते थे, अतीत को आदर्श मानते थे। अतीत के प्रति हम में मोह था। अतीत की कृतियों का अध्ययन इस नाते किया जाता था कि हम फिर से अतीत के स्वर्णिम जीवन को जीने में समर्थ हो जाएं। आज यह स्थिति नहीं रह गई है। नई पीढ़ी का लेखक अतीत को अतीत के संदर्भ में देखते हुए, उसकी वर्तमान उपयोगिता पर भी विचार करता है। यह शुभ है और समय के अनुकूल है।

आधुनिकता अपने आप में अपरिहार्य होती है। इतिहास की धारा को कोई रोक नहीं सकता। यह होने पर भी आधुनिकता के प्रति अपनाए गए दृष्टिकोणों में अन्तर होता है। इस दृष्टिकोण के आधार पर ही आधुनिकता के सम्बन्ध में

चर्चा की जा सकती है। यह अन्तर व्यक्ति, समाज, राष्ट्र सभी में देखा जा सकता है। भारतवर्ष के स्वाधीन होने तक परिस्थितियाँ और थीं और आज की परिस्थितियाँ और हैं। पराधीन राष्ट्र अपनी प्राचीन स्वतंत्रता की स्मृतियों के आधार पर ही जी सकता है। इसीलिए ऐतिहासिक रूप में आधुनिक होते हुए भी (अपने समय में) उस समयका राष्ट्र अतीत के गुण गाता रहा और आधुनिक स्थिति से (पराधीन स्थिति से) मुक्ति पाने में प्रयत्नशील रहा। वैसे तो प्रत्येक युग का समाज अपने समय की आधुनिक स्थिति से जूझता है। स्वाधीनता के पहले भारतवर्ष की आधुनिकता ऐतिहासिक अनिवार्यता का परिणाम थी। उस समय भारतीय जनता अपने वर्तमान को अपनी इच्छानुसार ढालने में और उसके प्रति प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण अपनाने में असमर्थ थी। यह स्थिति अब नहीं रही है। आज का भारत निर्माण कार्य में लगा हुआ है। वह स्वतंत्र है और अपनी इच्छानुसार योजनाएँ बनाकर उन्हें कार्यान्वित कर रहा है। कल तक हम अंगरेजों को दोष देते थे। अपनी विवशताओं का बखान करते थे। विवशताओं से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्नशील थे। किन्तु अब वह स्थिति नहीं रही। आज देश का प्रबुध्द वर्ग अपने देश के सम्बन्ध में चिन्तन कर रहा है। एक ओर उसे अपनी स्वतंत्रता को कायम रखना है, तो दूसरी ओर विघटनशील प्रवृत्तियों को रोक कर देश को समृध्द एवं खुशहाल बनाना है। विश्व में तथाकथित कहलाने वाले अन्य राष्ट्रों के संदर्भ में हमें अपने राष्ट्र को देखना है। अपने इतिहास के संदर्भ में हम कितने आधुनिक हो गए हैं और विश्व की वर्तमान स्थितियों के संदर्भ में हम कितने आधुनिक हैं, यह देखना आज परम आवश्यक हो गया है। आधुनिकता के सम्बन्ध में विचार करते समय इन सब बातों की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है।

आधुनिकता का सम्बन्ध वैज्ञानिक उपलब्धियों से है; केवल उपलब्धि मात्र नहीं बल्कि उन उपलब्धियों के आधार पर बदलते गए दृष्टिकोणों को अपनाने में है। इस अपनाने में प्राचीनता के मोह से मुक्ति पाना है और वर्तमान उपलब्धियों में आस्था का निर्माण करना है। यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर एक मत होना कुछ कठिन प्रतीत हो रहा है। वैज्ञानिकता केवल आज भौतिकी क्षेत्र में या पदार्थ के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि मस्तिष्क एवं आत्मा के क्षेत्र में भी देखी जा सकती है। बर्ट्रेंड रसेल का यही कहना है। वे लिखते हैं– "हम उस स्थिति में आ रहे हैं जब मस्तिष्क को, आत्मा को और पदार्थ को एक ही समझा जायगा, और इस दृष्टिकोण के स्वीकार कर लिए जाने पर इनके बीच वरीयता की कोई आवश्यकता ही

न रह जायगी।"[1] यहाँ पर इस विवाद में नहीं पड़ना है। कहना यही है कि वैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रति हमारे देखने का दृष्टिकोण क्या है? क्योंकि यही वह दृष्टिकोण है, जिसके आधार पर यह परखा जा सकता है कि हम कितने आधुनिक हो गए हैं।

हम कितने आधुनिक हो गए हैं? हमारा आधुनिक बोध किस कोटि का है? भविष्य के प्रति हमारा दृष्टिकोण अतीतोन्मुख है या आधुनिक उपलब्धियों के संदर्भ में बदलते मानदण्डों से है? आदि का उत्तर हमें वर्तमान साहित्य को देखने से मिल जाएगा। साहित्य की वर्तमान प्रवृत्तियाँ ही हमें यह कह सकती हैं कि हमारी आधुनिकता किस कोटि की है? इस दृष्टि से सन् १९४७ के बाद का साहित्य काफी बदला हुआ लगता है। आज का साहित्य बुद्धिवादी एवं यथार्थोन्मुख होता जा रहा है। सामयिक समस्याओं की चर्चा भी उनमें हो रही है। अतीत की चर्चा भी यदि होती है तो उसे वर्तमान संदर्भ में देखा जाता है। यह सब भी स्थिति–व्यक्ति–सापेक्ष है। आधुनिक बोध की विवृत्ति जिस रूप में भी हो रही है, वह हमारे मानस का विश्लेषण करनेवाली सिद्ध होने के प्रयत्न में है। आधुनिक बोध एक अर्थ में समसामयिक के प्रति अपनाया गया यथार्थ बोध है। इस अर्थ में यदि अतीत हमारे मानस में जी रहा है तो वह वर्तमान के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण को अपना कर जी रहा है या नकारात्मक? हमारा मानसिक द्वन्द्व किस कोटि का है? हमारे बाह्य जीवन एवं आन्तरिक जीवन में कितना वैषम्य है और इस वैषम्य के कारण जीवन में किन असंगतियों का निर्माण हो रहा है आदि की विवृति प्रमुख रूप में साहित्य में हो रही है। इन सब का विश्लेषण करने के लिए यहाँ स्थान नहीं है। यहां इतना ही कहना अभिप्रेत है कि पहले की तुलना में आज का साहित्य समसामयिक बोध से अधिक ग्रस्त है। वह बीते हुए कल की तुलना में आज पर विचार करना और आज की पीड़ा को व्यक्त करना अधिक अच्छा समझ रहा है।

इस बात को कुछ विस्तार के साथ देखें। कबीरदास एवं तुलसीदास इन दोनों महाकवियों की तुलना इस संदर्भ में करें। इस संदर्भ से तात्पर्य उनके अपने युग के आधुनिक बोध से। निश्चित ही कबीर को तुलसी की

---

१. वैज्ञानिक परिदृष्टि — बर्ट्रेंड रसेल — (अनुवादक : गंगारतन पाण्डेय) पृष्ट ४३.

तुलना में अपने युग का आधुनिक कवि कहना पडेगा। कबीर का समसामयिक बोध तुलसी की अपेक्षा अधिक जाग्रत एवं प्रत्यक्ष है। कबीरदास अपने युग पर जितनी सीधी और स्पष्ट बात जितनी निर्भिकता के साथ कहते हैं, उतने तुलसीदासजी नहीं कहते। यहाँ तुलसीदास का अवमूल्यन करने का उद्देश्य नहीं है। उनका अपना और महत्त्व है। यहाँ बात आधुनिकता के संदर्भ में की जा रही है। इसी दृष्टि से प्रेमचन्द एवं प्रसाद की तुलना करें तो इन दोनों में प्रेमचन्दजी ही अधिक आधुनिक सिद्ध होंगे। जो भी साहित्यकार आधुनिकता की ओर उन्मुख होता है। उसे अपने युग से जूझना पड़ता है। कबीर ने तुलसी की तुलना में और प्रेमचन्द ने प्रसाद की तुलना में अधिक संघर्ष किया है। अतीतोन्मुख होकर जीना इन महापुरुषों को पसन्द नहीं था। तात्पर्य यह है कि आधुनिकता की विवृति में समसामयिक घटनाओं के प्रति समसामयिक बोध अपने पूरे अंतर्द्वन्द्वों के साथ व्यक्त होता है। इस दिशा में साहस के साथ कदम उठाना पड़ता है। यह कार्य व्यक्ति से साहस को मांग करता है। इस दृष्टि से फ्रान्स का इतिहास देखें। वॉल्टेयर का नाम इस दृष्टि से फ्रान्स के साहित्य में (इतिहास में भी) अमर है। विक्टर ह्यूगो का कहना था–"वॉल्टेयर का नाम ही लेने का अर्थ है पूरी अठारहवीं शताब्दी का वर्णन करना।"[1] विलडूरेंट ने लिखा है–"सम्राट लुई सोलहवें की (जो फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद कैद कर लिए गए थे) जेल में एक दिन वॉल्टेयर और रूसो की किताबों पर नजर पडी तो उन्होंने कहा,–'इन दो आदमियों ने ही फ्रान्स को चौपट किया है। –'फ्रांस से उनका मतलब उनके अपने शासन से था। नेपोलियन ने कहा था–'उन दिनों के राजे महाराजे अगर किताबों पर प्रतिबन्ध लगा देते तो उनका राज्य कुछ दिन और चल जाता। तोप आ जाने से सामन्तशाही समाप्त हुई किन्तु लेखनी सामाजिक संगठन को ही समाप्त कर देगी।' वॉल्टेयर का कहना था, 'किताबे संसार पर शासन करती हैं, अथवा कम से कम विश्व के उन राष्ट्रों पर शासन अवश्य करती हैं, जहाँ भाषा को लिपिबद्ध किया जाता है। शासन के लिए अन्य बातों का विशेष महत्त्व नहीं होता।' उसने आगे कहा कि 'शिक्षा के समान स्वतंत्रता प्रदान करनेवाली अन्य कोई वस्तु नहीं है।' जब एक बार किसी राष्ट्र की विचार–शक्ति जाग उठती है तो उसे रोकना असंभव हो जाता है। वॉल्टेयर के साथ ही फ्रान्स की विचार–शक्ति जागृत हुई थी।"[2]

---

१. दर्शन की कहानी–विलडूरेंट–(अनुवादक: कैलाशनारायण चौधरी), पृ. २०१

२. –वही–पृ. २०३.

इन उदाहरणों को देने का तात्पर्य यही है कि साहित्यकार आधुनिकता की ओर कितना उन्मुख है, यह देख सकें। इस तुलना में आज का हिन्दी साहित्य अपने सही अर्थों में आधुनिकता की विवृति नहीं कर रहा है। हाँ अपने गत इतिहास के संदर्भ में आधुनिकता की ओर अधिक उन्मुख हुआ है। आधुनिकता की चर्चाएँ इन दिनों विभिन्न पत्र— पत्रिकाओं में हो रही है। यह स्वयं इस बात का द्योतक है कि अब हमारा ध्यान समसामयिकता की ओर है। आधुनिकता के संदर्भ में एक बात और कह दें और वह यह कि प्रत्येक देश की आधुनिकता उसके अपने स्थानीय ऐतिहासिक संदर्भ से युक्त होती है। हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के नाम पर आज जो कुछ लिखा जा रहा है, उस पर एक आपत्ति यह व्यक्त की जा रही है कि उसमें विदेशी तत्त्व अधिक है। यों कहिए यह आधुनिकता इस मिट्टी की नहीं है। यह एक विवादास्पद विषय है। इस सम्बन्ध में यहाँ इतना ही कहना है कि विदेशी तत्त्वों का मेल होने पर भी उसमें अपने गत इतिहास की तुलना में आधुनिकता का अंश अधिक है। वर्तमान को नकारने से समस्या हल नहीं हो सकती। जो है, उसे स्वीकार कर चलना ही होगा। हाँ, इस स्वीकृति में देश की वर्तमान अवस्था का–समसामयिक अवस्था का-ध्यान रखा जा सकता है। यदि वास्तव में आधुनिकता की उपज इस मिट्टी से सम्बन्धित नहीं है, तो उसे प्रश्रय नहीं मिलेगा और उसकी चर्चा भी उसी संदर्भ में होगी जिससे वह सम्बन्धित है। यह तो इतिहास बतलाएगा कि हम आधुनिकता से कटे हुए हैं या संलग्न है? कटकर रहने का बोध किस तरह का होता है और संलग्न रहने का बोध किस कोटि का होता है? यह भी इस समय अप्रस्तुत है। प्रस्तुत प्रसंग में यही कहना है कि हमारा आज का साहित्य गत इतिहास की तुलना में आधुनिवता के अधिक निकट है।

आधुनिकता का सम्बन्ध वैज्ञानिक उपलब्धियों से कहा गया और यह भी कहा गया कि उन उपलब्धियों के प्रति अपनाए जानेवाले दृष्टिकोण से है। अतः वैज्ञानिक दृष्टि से आधुनिकता की उपलब्धियों की ओर बढ़ने में देश का कायापलट करना आवश्यक हो गया है। अमेरिका एवं अन्य पश्चिमी राष्ट्र, रूस, जापान एवं चीन आदि वैज्ञानिक साधनों से संपन्न हो रहे हैं। उनकी यह संपन्नता उनको आधुनिक बनाने में सक्षम हो रही है। भारत भी यदि इन सब की पंक्तियों में खड़ा रहना चाहता है, तो उसे भी अपने आपको साधन संपन्न बनना पड़ेगा। स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा भारत इस दिशा में अग्रसर हो रहा है। बहुत सी योजनाओं को एक साथ

कार्यान्वित करने का प्रयास हो रहा है। इस समय में इस विराट परिवर्तन में जो पहले की तुलना में अधिक गतिशील है और जिसका सम्बन्ध अब अपने देश मात्र से नहीं, विश्व के अन्य राष्ट्रों से भी है और यह परिवर्तन मूलतः देखने में बाह्य परिवर्तन प्रतीत होने पर भी अंतर को भी शीघ्र बदल रहा है। इस परिवर्तन में सभ्यता का विकास हो रहा है। प्रश्न इस सयम यह है कि इस सभ्यता के साथ प्राचीन मूल्यों को लेकर कैसे जिएँ ? हमारा देश युगों से जिन सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा करते आ रहा है, उसे वह परिवर्तनों के आधार पर सहसा छोड़ देने के लिए तैयार नहीं हो सकता। देश का आंतरिक जीवन नई सभ्यता को संदेह भरी दृष्टि से देख रहा है। जहाँ तक बाह्य जीवन के परिवर्तन वातावरण एवं यंत्रों से सम्बन्धित है, उन्हें वह सहर्ष स्वीकार कर रहा है, क्योंकि इससे सुखसुविधा में वृद्धि हो रही है किन्तु इस परिवर्तन से प्राचीन आस्थाएँ स्वयमेव लड़खड़ा रही हैं। अतः एक अनास्थामूलक स्थिति का निर्माण हो रहा है। जीवन अधिक संघर्षमय होता जा रहा है। प्रतियोगिताओं में साथ देना पड़ रहा है। इस भागदौड़ में शांतिमय क्षण कम ही दिखाई दे रहे हैं। यों कहिए कि यह सारा द्वन्द्व सभ्यता और संस्कृति का द्वन्द्व है। आधुनिकता की पीड़ा यह है कि बदली हुई स्थितियों के अनुकूल अपनी प्राचीन नैतिकता को युगों से आए संस्कारों को या सांस्कृतिक मान्यताओं को लेकर नही जिया जा सकता। बदलना चाहने पर भी बदलना संभव नहीं लगता क्योंकि बाह्य परिवर्तन की गति तीव्र है और इस गति से अंतर को बदलना बड़ा कठिन काम है। फिर सभ्यता भविष्योन्मुख है तो संस्कृति अतीतोन्मुख। इन दोनों में संतुलन स्थापित करना आज के युग की मुख्य समस्या है। आधुनिक युग की इस पीड़ा को व्यक्त करने से नई मान-वीय दृष्टि का बोध हो सकता है। बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा है कि-"राजा महाराजाओं के इतिहास का अध्ययन करके लोग गणतंत्रवादी बन गए ?"[१] ठीक इसी तरह यदि आधुनिकता की विवृति में यदि मानवीय पीड़ा की विवृति हो जाय तो मानवीय संवेदना का क्षेत्र विस्तृत होगा। वैज्ञानिकता का प्रवेश पदार्थ जगत में दिखाई दे रहा है और उसके अनुसार जो परिवर्तन हो रहा है, वह हमारे बाह्य जीवन से सम्बन्धित है, उस तुलना में सामाजिक रूप में, राष्ट्रीय रूप में एवं अंतर्राष्ट्रीय रूप में वैज्ञानिक दृष्टि से परिवर्तन नहीं हो रहा है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि मानव, पदार्थ नहीं है और उसके साथ पदार्थ सा व्यवहार नहीं किया जा सकता। इसीलिए अब आवश्यकता इस बात की है कि बदली हुई परिस्थितियों में मानवीय

---

१. वैज्ञानिक परिदृष्टि — बर्ट्रेंड रसेल-(अनुवादक : गंगारतन पाण्डेय) - पृ. ६४

संवेदनाओं में जो परिवर्तन हो रहा है, उसे सही रूप में अभिव्यक्त कर उन संवेदनाओं के प्रति आपस में-मानव समाज में-सहानुभूति का भाव पैदा करने का प्रयत्न करें। इस दिशा में कदम उठाना आधुनिकता के सही बोध को समझने के निकट होगा। पहले की तुलना में आज की पीढी के लेखक इस संवेदना को व्यक्त कर रहे हैं और इस सम्बन्ध में वे अपने देश के साथ साथ विदेश की चर्चा भी करते हैं क्योंकि हम आज कटकर जी नहीं सकते। यह समकालीन इतिहास-बोध की सब से प्रबल माँग है।

साहित्य

धारा

.४.८
जा|सा

कुमार

विचार-स्वातंत्र्य

विचार-स्वातंत्र्य

समकालीन इतिहास-बोध व्यक्ति की आत्मा को स्वतंत्र करने में सहायक होता है। व्यक्ति इस आधारपर अपने को और अपने आसपास के जगत को समझता है। इस प्रकार का बोध उसे शांत नहीं रहने देता। व्यक्ति फिर अपने को अभिव्यंजित करने के लिए उतावला हो जाता है। अभिव्यंजना के आधार पर ही वह जी सकता है। इस प्रकार की अभिव्यंजना में वह पूर्ण स्वातंत्र्य की माँग करता है, जो सहज है। आधुनिकता की सब से बडी माँग विचार-स्वातंत्र्य है। आधुनिकता की सब से बडी पीडा यह है कि व्यक्ति के विचार कुचल दिए जाते हैं। इसी से वह छटपटाता है। यह छटपटाहट मौन और करुणा से आप्लावित है। यदि इसे वाणी मिले तो मुक्ति मिलती है और जीवन मिलता है।

विचारों की जीत सब से बडी जीत होती है और विचारों की हार सबसे बडी हार। क्योंकि वास्तव में विचार ही व्यक्तित्व को पुष्ट करते हैं। जिसके अपने कोई विचार नहीं उसका अपना कोई व्यक्तित्व भी नहीं होता। जो बात एक व्यक्ति के लिए लागू है, वह समूह, समुदाय और राज्य के लिए भी लागू है। जिस राज्य की जनता का चिंतन-स्तर ऊंचा होगा और जिसकी अपनी निजी सत्ता होगी वह राज्य निश्चित ही समुन्नत होगा। जॉन ड्यूई ने लिखा है-" जैसे ही विचारशक्ति

विकसित होती हैं वैसे ही मनुष्य की आवश्यकताओं का अंधापन खत्म हो जाता है। विचार आगे की ओर देखता है और परिणाम की पहले से ही कल्पना कर लेता है। वह अपने लिए कुछ प्रयोजन, योजनाएं, लक्ष्य और आदर्श उद्देश्य बना लेता है। मानवीय प्रकृति के इन सार्वत्रिक और अनिवार्य तथ्यों में से श्रेयस् की और चरित्र के बौद्धिक पक्ष के मूल्यों की नैतिक अवधारणाएं विकसित होती हैं। चरित्र का यह बौद्धिक पक्ष इच्छाओं और उद्देश्यों के समस्त संघर्ष और द्वन्द्व में व्यापक और स्थायी परितुष्टि को अन्तर्दृष्टि से देखने का प्रयत्न करता है। वही ज्ञान या दूरदर्शिता है।"[1] इसी ज्ञान और दूरदर्शिता के आधार पर मानव उन्नति करता है और अपने हित के साथ-साथ समाज का भी हित करता जाता है। किन्तु यह सभी उसी समय संभव है जब कि राज्य-व्यवस्था में विचार स्वातंत्र्य की सुविधा दी गई हो। जो राज्य-व्यवस्था विचारों पर रोक लगाएगी वहाँ पर निरंकुश सत्ता स्थापित होगी और आंतक का साम्राज्य होगा। लोकराज्य जैसे कि नाम से ही स्पष्ट है जनता का राज्य है। अतः इसमें विचार-स्वातंत्र्य की व्यवस्था है। किन्तु केवल विधान में लिखे होने से ही काम नहीं होता। आवश्यकता उसके व्यावहारिक प्रयोग की है।

हमारे संविधान में विचार-स्वातंत्र्य की व्यवस्था है। यह जनता के हित में है। किन्तु विधान बना देने से ही व्यवस्था में एकदम परिवर्तन नहीं हो जाता। उदाहरण के लिए रूस का इतिहास देखा जा सकता है। १८५५ ई० में जब क्रिमिया का युद्ध चल रहा था, उस समय अलेग्जेण्डर द्वितीय रूस का शासक बना। उदार हृदय का होने के नाते इसने अपने देश में बहुत से सुधार करने के प्रयत्न किए। इसी ने १८६१ ई० में दासों की उन्मुक्ति का हुक्म जारी किया और इस एक ही हुक्म से रूस की चार करोड़ जनता स्वतंत्र हो गई। किन्तु इस कानून से दासों को वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो सकी। इंग्लैण्ड में दासता का अन्त आर्थिक क्रांति से हुआ था जबकि रूस में इस समय दासता का अन्त कानून से हुआ। कानून से अन्त होने के कारण आर्थिक स्थिति में नाम-मात्र का फेरफार हुआ और व्यवस्था ज्यों-की-त्यों बनी रही। इसमें संदेह नहीं कि नैतिक दृष्टि से रूस को अपार लाभ हुआ, किन्तु वास्तव में रूस के किसान को अपनी प्रतिष्ठा की विशेष चिन्ता नहीं थी, वह तो चाहता था कि उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार हो। व्यवस्था

---

१. नैतिक जीवन का सिद्धांत, जॉन ड्यूई-(अनुवादक : कृष्णचंद्र, प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली.) पृ. १६७।

एकदम बदली नहीं जा सकी। पुरानी व्यवस्था से लाभ उठानेवाले अधिकारी वर्ग ने सारे अधिकार अपने हाथ में कुछ फेरफार के साथ ज्यों-के-त्यों बनाए रखे। १८८१ ई० में शासक की हत्या कर दी गई। इसके बाद के शासक ने फिर पुरानी व्यवस्था को बनाए रखा। तात्पर्य यह है कि कानून बना देने मात्र से परिवर्तन नहीं हो जाता। इसके लिए जनता में उस प्रकार की भाव-भूमि और आस्था पैदा करने की आवश्यकता होती है और जब तक यह नहीं होगा तब तक विचार-स्वातंत्र्य संविधान में ही लिखा रहेगा।

थामस पेन ने लिखा है-"मानव जाति का शासन करन वाली व्यवस्था का अधिकांश सरकार का कार्य नहीं है। उसका मूल समाज के सिद्धांतों एवं मनुष्य की प्राकृतिक रचना में है। इस व्यवस्था का अस्तित्व सरकार से पहले का है और यदि सरकार का औपचारिक स्वरूप उठा दिया जाय तो भी वह बना रहेगा।" [1] सच तो यह है कि समाज अपना बहुत-सा कार्य स्वयं कर लेता है। जिन स्थितियों में वह कार्य नहीं कर सकता वे स्थितियाँ सभ्यता के कारण निर्मित होती हैं। समाज के कानून लिखे नहीं होते, किन्तु उन कानूनों की शक्ति लिखित कानूनों से अधिक होती है और वे कानून सरकारी कानूनों से अधिक प्रभाव रखते हैं। समाज अपने लिए प्रायः वह सभी-कुछ कर लेता है जिसका श्रेय सरकार को मिलता है। विचार-स्वातंत्र्य भी यदि इसी तरह सामाजिक जीवन का अंग बन जाएगा तो इससे समाज का उत्थान होगा और वह वास्तविक अर्थों में समाज को शक्तिशाली बनाते हुए राज्य और सरकार को भी शक्तिशाली बनाने में समर्थ हो सकेगा।

समाज में अनेक संस्थाएँ होती हैं, समुदाय होते हैं। इनकी व्यवस्था में विचार-स्वातंत्र्य को स्थान मिलना चाहिए। विशेषतः इस प्रकार की व्यवस्था को सर्वप्रथम स्थान शिक्षा-संस्थाओं में मिलना चाहिए। क्योंकि विचारों को नई दिशा इन्हीं संस्थाओं द्वारा दी जाती है। यदि इन संस्थाओं में नवयुवकों को स्वतंत्र चिंतन विकसित करने का अवसर नहीं मिलेगा तो उनके जीवन की सक्रियता और सृजनशीलता का अंत हो जाएगा। बर्ट्रेंड रसेल ने ठीक ही लिखा है- "शिक्षा का उद्देश्य निष्प्राण तथ्यों की निष्क्रिय जानकारी नहीं, बल्कि ऐसी क्रियाशीलता होनी चाहिए जिसकी

---

१. थॉमस पेन के राजनैतिक निबंध-संपादक : नेल्सन एफ एडकिन्स-अनुवादक : भागीरथ रामदेव दीक्षित, पब्लिकेशन्स प्रायवेट लिमिटेड, बंबई-१....पृ. १४३।

दिशा उस नई दुनिया की ओर हो जो हमें अपने प्रयास से बनानी है। इसकी प्रेरणा हमें प्राचीन यूनान और पुनर्जागरण युग के विस्मृत वैभव का मातम करके नहीं, बल्कि आनेवाले समाज की भविष्य में विचारों की गौरवशाली सफलताओं की और मनुष्य द्वारा ब्रह्मांड के खोज के नित व्यापक होते हुए क्षितिज की उज्ज्वल कल्पना से लेनी चाहिए ।"[1] शिक्षा के इस मूल उद्देश्य में स्वतंत्र चिंतन को विकसित करने की भावना निहित है। शिक्षा-संस्थाओं के साथ-साथ पारिवारिक व्यवस्था में भी व्यक्तिगत अधिकारों के प्रति सम्मान करने की दिशा में प्रयत्न होना चाहिए। जिस बालक को घर पर ही स्वतंत्र चिंतन का अवसर मिलता है और यदि उसके विचारों का सम्मान उचित रूप में होता है तो उसकी उन्नति शीघ्र होती है। अतः पारिवारिक व्यवस्था में माता-पिता को इस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए। समाज में अनेक समुदाय और संस्थाएँ हैं। इन सब के नाम गिनाना यहाँ संभव नहीं है। चाहे वे राजनैतिक हों, आर्थिक हों, धार्मिक हों या किसी अन्य प्रकार के हों, सब जगह विचार-स्वातंत्र्य के प्रति आदर की भावना का निर्माण होना चाहिए। इसी से व्यक्ति जीवन में कुछ स्वतंत्रता का अनुभव करेगा। इसमें न केवल व्यक्ति मात्र का हित होगा, बल्कि समाज और राज्य का भी हित होगा। यदि किसी बालक को विद्यालय में तो स्वतंत्रता मिल गई किन्तु घर पर उसे अनुशासन में जकड़ा जा रहा है तो उसकी उन्नति में बाधा होगी। इसी तरह राज्य व्यवस्था में विचार-स्वातंत्र्य की व्यवस्था तो है, किन्तु यदि व्यक्ति जिस संस्था में कार्य कर रहा है वहाँ कड़ा अनुशासन है और किसी को मुंह खोलने नहीं दिया जाता तो उस व्यक्ति के लिए जीना दूभर हो जाएगा। सच तो यह है कि व्यक्ति जिन समुदायों के भीतर रह कर कार्य करता है वहाँ उसे उन्मुक्त वातावरण मिलना चाहिए। एक-दूसरे के विचारों और अधिकारों के प्रति जब तक सम्मान का भाव पैदा नहीं होगा, तब तक राज्य की व्यवस्था को दोष देने से कोई लाभ नहीं होगा। राज्य यदि इस दिशा में प्रयत्न करना चाहे तो उसे छोटी-से-छोटी संस्थाओं का इस दृष्टि से निरीक्षण कर, सब में इस प्रकार की चेतना को जाग्रत करने का प्रयत्न करना चाहिए। (विश्व-ज्योति, होशियारपुर, मार्च १९६५ ई. में 'लोकराज्य और विचार-स्वातंत्र्य' शीर्षक से प्रकाशित)

---

१. सामाजिक पुनर्निर्माण के सिद्धांत-बर्ट्रेंड रसेल, अनुवादक : मुनीश सक्सेना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली. पृ. १४० ।

सत्य

सत्य

आधुनिकता के संदर्भ मे 'सत्य' पर विचार किया जा सकता है। भविष्य के सत्य की कल्पना हमें वर्तमान सत्य के आधार पर ही करनी पडेगी। प्रश्न होगा कि क्या वर्तमान में सत्य की उपलब्धि हो गई है? निश्चित उत्तर देना कठिन है किन्तु ज्ञान एवं विज्ञान की जितनी शाखाएं हैं, उन सब का उद्देश्य अपने आप में सत्य के निकट पहुँचना ही है और इस अर्थ में ज्ञान एवं विज्ञान की जो भी वर्तमान उपलब्धियाँ हैं, उन्हीं को हम वर्तमान सत्य के रूप में स्वीकार करेंगे। इन उपलब्धियों के सन्दर्भ में ही वर्तमान सत्य की मीमांसा की जा सकती है और इसी के आधार पर आधुनिक जीवन की कल्पना की जा सकती है। इसी सन्दर्भ में सत्य की व्याख्या करने का अल्प प्रयास किया जा रहा है और सत्य की इस व्याख्या से भविष्य के सत्य का अनुमान किया जा सकता है।

प्रश्न होगा कि सत्य अपने आप में सत्य होता है, हम उसे पूर्ण सत्य कहेंगे और उसके साथ वर्तमान, प्राचीन या आगत शब्द जोड़ना या इन सन्दर्भों में सत्य को परखना कहाँ तक समीचीन होगा? जो सत्य नहीं है, वह असत्य है और जो असत्य नहीं है, वह सत्य है। इन प्रश्नों और उत्तरों को सहज रूप में परखने और उनकी उचित मीमांसा करने के लिये अनेक पृष्ठ रंगने पड़ेंगे। निबन्ध को दार्शनिक रूप देना भी ठीक नहीं।

अत: सत्य के सम्बन्ध में साधारण धारणाओं को प्रस्तुत करना यहाँ इष्ट हैं। सत्य का सही आराधक बनना बडे दायित्व का काम है। यहाँ नीचे जो विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं, वे जन–जीवन के सत्य के प्रति प्रचलित दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर ही किये जा रहे हैं। इनमें भी विशेष रूप से यह विवेचना आधुनिक सन्दर्भ में की जा रही है।

सत्य के सम्बन्ध में अधिकारपूर्वक कहने वाले व्यक्ति जन मानस की दृष्टि से प्रमुख रूप से तीन प्रकार के व्यक्ति हैं। वे हैं- (१) धार्मिक नेता, (२) वैज्ञानिक और (३) दार्शनिक। हम सबकी दृष्टि इन्हीं लोगों की ओर लगी हुई है और इन्हीं की मान्यताओं के आधार पर जगत का कामकाज आज हो रहा है और भविष्य में भी हमारे मार्गदर्शक ये ही लोग रहेंगे। अत: सत्य से सम्बन्धित इन सभी का स्वतंत्र विचार करना और फिर इन तीनों का आपसी सम्बन्ध और अन्तर दिखलाना साथ ही इनमें से जनमानस की वर्तमान प्रवृत्ति इन तीनों मे से किस ओर अधिक है, इसे देखना आधुनिक सत्य को समझने के आधार हो सकते हैं। इनके ठीक ठीक विश्लेषण से हम वर्तमान को समझ सकते हैं और इन्हीं के आधार पर समकालीन इतिहास–बोध को स्पष्ट किया जा सकता है।

प्रथमत: धार्मिक सत्य की विवेचना की जाय। धार्मिक सत्य एक प्रकार से स्वीकृत सत्य है। इसे स्वीकृत ही नहीं अंगीकृत सत्य भी कहा जा सकता है। इस सत्य में जनमानस का विश्वास होता है। यह सत्य बदलना नहीं चाहता। धार्मिक व्यक्ति यह कहेगा कि मैं इस सिद्धान्त में विश्वास करता हूँ और यदि तुम इस सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते तो तुम धर्म–विरोधी हो। धार्मिक व्यक्ति में विश्वास का बल होता है। ऐसे व्यक्तियों के विचार बडे कट्टर होते हैं और वे सहज ही बदलने के लिये तैयार नहीं होते। धार्मिक नेता प्राय: वर्तमान से असन्तुष्ट होते हैं और वे अतीत को फिर से जीवित करना चाहते हैं।

विज्ञान का सत्य ज्ञान की दिशा में माना हुआ स्वीकृत सत्य है। किन्तु यह जिस क्षेत्र में भी स्वीकृत सत्य होगा, वह ज्ञान की नवीनतम उपल–ब्धियों के आधार पर माना हुआ सत्य होगा। वैज्ञानिक सत्य अपने आप में पूर्ण सत्य होता है। पूर्ण इस अर्थ में कि कारणों एवं परिणामों की उसमें ठीक ठीक मीमांसा होती है। एक ही दिशा में किये गये सभी परीक्षणों का लाभ उठाकर वैज्ञानिक नवीनतम सत्य की उपलब्धि करता है। धार्मिक सत्य

प्राचीन होता है, जबकि वैज्ञानिक सत्य नवीनतम होता है। धर्म की बहुत सी मान्यताएँ विज्ञान के कारण बदल गई हैं।

सत्य का वास्तविक आराधक दार्शनिक होता है। दर्शन का सत्य निश्चित या स्वीकृत सत्य नहीं होता। यों कहिये कि दार्शनिक सत्य की दिशा में सबसे आगे चलने वाला होता है। जगत में अब भी इतनी समस्याएँ है कि उनका निश्चित और ठीक ठीक उत्तर नहीं दिया जा सकता। और न ही उनका निदान किया जा सकता है। आज भी यह विश्व अनेक प्रकार की जिज्ञासाओं से भरा हुआ है। दर्शन का राही अनन्त काल तक इस मार्ग पर चल सकता है। किन्तु जो खोज में लगा हुआ है, वह प्राप्त सत्य का आनन्द नहीं ले सकता और इसीलिये सत्य के ये आराधक वर्तमान सत्य से कुछ आगे या उपलब्ध सत्य से आगे रहते हैं। जनमानस की दृष्टि में ये विश्वास के पात्र नहीं होते, क्योंकि इनका सत्य स्वीकृत सत्य नहीं होता।

ऊपर धार्मिक सत्य, वैज्ञानिक सत्य एवं दार्शनिक सत्य के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा गया है, वह स्थूल रूप में बतलाया गया अंतर है। इन तीनों के आपसी सम्बन्धों को देखें। धार्मिक नेता (विशेष रूप से धर्म का संस्थापक) एवं वैज्ञानिक (विज्ञान की दिशा में नये सत्य की स्थापना करनेवाला) दोनों ही सत्य की उपलब्धि से पूर्व दार्शनिक होते हैं। गौतम बुद्ध का ही उदाहरण लें। वे सत्य की खोज में घर से निकले। जब तक उन्हें सत्य का ज्ञान नहीं हुआ या सत्य से साक्षात्कार नहीं हुआ. तब तक वे एक दार्शनिक के रूप में सत्य के अन्वेषक बने रहे। कहते हैं पेड के नीचे उन्हें प्रकाश दिखलाई दिया। वह सत्य का प्रकाश था और तब उन्हें सत्य की प्रतीति हुई। तत्पश्चात् उन्होंने उस सत्य का प्रचार करना शुरु किया। उनके शिष्यों ने उनसे उस सत्य की प्रतीति पाई। फिर उसका देशव्यापी प्रचार हुआ। यह सत्य जनमानस के विश्वास का आधार बना। यही स्थिति प्रत्येक धर्म के प्रवर्त्तक की रही है। धर्म का स्वीकृत सत्य, जीवन के सम्बन्ध में जिन विचारों को प्रस्तुत करते हैं. वे विचार संस्कृति के आधार बनते हैं। धर्म का क्षेत्र भारतीय दृष्टि से बहुत विस्तृत है। हिंदुओं की समाज–व्यवस्था और उनके व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के प्राय: प्रत्येक क्षेत्र जन्म–मरण, शिक्षा, विवाह, व्यवसाय, नीति, खान–पान, जात–पाँत, शौचाशौच आदि में धर्म का प्राधान्य है, धर्म का जितना व्यापक अर्थ और जितना विस्तृत क्षेत्र हिंदुओं में पाया जाता है, उतना संसार के किसी अन्य समाज, जाति या

अनुयायियों में नहीं पाया जाता।[1] अतः जीवन के जिन-जिन क्षेत्रों में धर्म का प्रवेश हुआ है और जिन-जिन व्यवहारों के सम्बन्ध में, चाहे वे व्यक्तिगत जीवन में हों, सामाजिक जीवन में हों या राष्ट्रीय जीवन में हों, उन-उन क्षेत्रो में धर्म के अनुकूल संस्कृति का विकास हुआ है।

वैज्ञानिक भी आरंभ में दार्शनिक ही होता है। न्यूटन हो या आइन्स्टीन दोनों ही सत्य के अन्वेषक थे। सत्य की उपलब्धि से पूर्व, अपने परीक्षण काल में वे दार्शनिक ही थे। सत्य की उपलब्धि के बाद उन्होंने उस क्षेत्र में (जिस क्षेत्र में उन्होंने नवीनतम सत्य की उपलब्धि की) अपने से पूर्व सभी सत्यों को ललकारा और उसे संशोधित कर पूर्ण सत्य को निकट से पहचाना। मनुष्य का हो या प्राकृतिक शक्तियों का हो, विज्ञान ने इनके सम्बन्ध में अणु अणु का अध्ययन प्रस्तुत किया और उनसे मानव-जाति के जीवन को अधिक सुगम एवं सुखप्रद बनाने का प्रयत्न किया। आवश्यकताओं के कारण अविष्कार हुए और अविष्कारों से आवश्यकताओं की पूर्ति हुई और इस तरह मानवजाति सभ्य बनती गई। विज्ञान ने मनुष्य को सभ्य बनाया है। आज जगत में जो राष्ट्र वैज्ञानिक साधनों का अधिक प्रयोग कर रहा है, वह राष्ट्र अपेक्षाकृत अधिक सभ्य है।

धार्मिक सत्य एवं वैज्ञानिक सत्य दोनों की तुलना वस्तुतः संस्कृति एवं सभ्यता की तुलना करने सदृश है। यह तुलना करते हुए हमें यह देखना है कि आज का जन-मानस किस ओर अधिक आकर्षित है। इसी सन्दर्भ में आधुनिक सत्य की व्याख्या की जा सकती है और इसी के आधार पर आधु-निकता को ठीक समकालीन इतिहास-बोध के संदर्भ में परखा जा सकेगा।

गौतम बुद्ध ने या महावीर ने या किसी और धर्म के प्रवर्त्तक न धर्म की जो व्यवस्था बतलाई, वह उन्होंने उस युग को लक्ष्य में रखकर ही बतलाई। उस युग का सामाजिक जीवन जैसा भी रहा होगा, उसी को उन्होने तदनु-कूल व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। दूसरी बात यह कि उस युग की जो वैज्ञानिक उपलब्धियाँ रही होंगी, उसी के अनुसार उस युग का समाज सभ्य रहा होगा। अतः सभ्यता के उस काल में बतलाई गई धार्मिक व्यवस्था

---

१. धर्म शास्त्र का इतिहास-पांडुरंग वामन काणे-इस ग्रंथ की प्रकाशकीय पंक्तियों को ऊपर उद्धृत किया गया है। ठाकुर प्रसाद सिंह, सचिव हिन्दी समिति।

उस युग के अनुकूल रही । अपने युग में ये धर्म प्रवर्त्तक निश्चित ही क्रांतिकारी रहे हैं । गौतम बुद्ध के काल में गौतम बुद्ध का विरोध हुआ है, इसी तरह अन्य धर्म प्रवर्त्तकों के जीवन का यदि अध्ययन करें तो सभी में यह दिखलाई देगा कि उनके जीवन काल में उनका भी बड़ा विरोध हुआ है। क्राइस्ट को तो फाँसी ही दी गई है। मानव जीवन के ये सत्यान्वेषी अपने जीवन काल में देवता नहीं, मनुष्य थे, किन्तु बाद में वे देवता के रूप में पूजे गए । उन सत्यान्वेषियों ने अपने युग की सभ्यता का जीवन अपनाने में संकोच नहीं किया था । उन्होंने उस युग की वैज्ञानिक उपलब्धियों को नकारा नहीं था। वैज्ञानिक सत्य को नकारने वाला अपने युग से पीछे होता है । उन्होंने उस युग के वैज्ञानिक सत्य को स्वीकार किया था और उसी के अनुकूल जीवन की व्यवस्था में परिवर्तन करना चाहा । (यहाँ एक प्रश्न सहज ही में उपस्थित हो सकता है और वह यह कि गौतम बुद्ध का दर्शन निवृत्ति में, निर्वाण में विश्वास करने वाला है और यह दर्शन प्रवृत्ति मूलक न होने के कारण वैज्ञानिक उपलब्धियों का लाभ उठाने वाला नहीं हो सकता, अतः ऊपर कही गयी बात गलत सिद्ध हो जाती है। इसे यों भी व्यक्त किया जा सकता है कि गौतम बुद्ध को सभी प्रकार के सुख प्राप्त थे और उन्हें महल छोड़ कर जाना उचित नहीं था, आदि आदि) इस दृष्टि से हिन्दुओं का धर्मशास्त्र (जिस जिस समय बना है) अपने युग की सभ्यता का पूरा पूरा चित्र प्रस्तुत करता है । सभ्यता के इस चित्र में अपने युग की वैज्ञानिक उपलब्धियों को पूर्णतः स्वीकारा गया है। सभ्यता की बदलती परिस्थितियों में शास्त्र की व्यवस्था भी बदली है। काणे के धर्मशास्त्र में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिल जाएँगे । किन्तु कालान्तर में वैज्ञानिक सत्य से धार्मिक सत्य में अन्तर आता गया । धार्मिक सत्य इस अर्थ में रूढ हो गया कि वह अपने निर्माणकाल की सभ्यता से चिपट कर रह गया और विज्ञान की नवीन उपलब्धियों के कारण सभ्यता में परिवर्तन हो गया। उदाहरणार्थ : दीपावली के समय तेल के दीपक जलाये जाते हैं । जिस समय दीपावली प्रथम बार मनाई गई होगी, उस समय या उस काल मे बिजली का आविष्कार नहीं हुआ था, अतः तेल के दीपक जलाये गये थे । आज बिजली के दीपक (गोलों के रूप में) जलाये तो जाते हैं, किन्तु पूजा के अवसर पर या सांस्कृतिक क्षणों को उसी रूप में अनुभव करने के लिये तेल के दीपक जलाये जाते हैं। इनका महत्त्व सभ्यता की दृष्टि से नहीं है, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से इनका बड़ा महत्व है । यह तो एक उदाहरण हुआ । हमारे बहुत से सांस्कृतिक कार्यो का विधान प्राचीन सभ्यता से सम्बन्धित है और हम उन उन अवसरों पर आधुनिक सभ्यता को छोड़कर प्राचीन सभ्यता का

अनुकरण करते हैं। यह सब लिखने का तात्पर्य यह है कि धर्म का विधान जिस समय हुआ था वह विधान काल की सभ्यता के अनुरूप हुआ, किन्तु कालान्तर में वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण सभ्यता में अन्तर आता गया, किन्तु हमारी धार्मिक मान्यताएँ उसी सभ्यता से चिपटी रहीं। जहाँ विचारकों ने इस कठिनाई को अनुभव किया, वहाँ इसमें संशोधन भी किया है। इसी से एक ही धर्म के अनेकों सम्प्रदाय भी बने हैं। मूलतः भावना एक होने पर भी आचरण एवं सभ्यता (देश काल के अनुसार) में अन्तर होने के कारण ही धार्मिक भेदभाव देखने में आया है। सभ्यता वैज्ञानिक उपलब्धियों के बाद बदलती है। सभ्यता का बदलना या उन्नत होना जीवन की सुगम एवं सुखकर पद्धतियों का निर्माण करना है। इन बदली हुई परिस्थितियों में युग धर्म का संशोधन होना आवश्यक है। अत: आज हम सबके सामने बिकट प्रश्न जो उपस्थित हैं और जिसे हम वर्तमान युग का सत्य कहेंगे, वह वज्ञानिक सत्य को धार्मिक सत्य के निकट लाने का प्रश्न है। यह कार्य स्वतंत्र रूप से न धार्मिक नेता कर सकता है और न ही वैज्ञानिक कर सकता है। इस कार्य को दार्शनिक या चिन्तक ही कर सकता है अतः हम लोगों की दृष्टि दार्शनिकों की ओर लगी हुई है।

वर्तमान युग में शिक्षा का व्यापक प्रचार हो रहा है। यह प्रचार स्वीकृत सत्यों का (आधुनिक उपलब्धियों के सन्दर्भ में, ज्ञान एवं विज्ञान को सभी शाखाओं से सम्बन्धित) प्रचार है। वह प्राचीन सभ्यता से चिपटे धार्मिक सत्य को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हो सकता। यह स्वाभाविक है। आज का शिक्षित समाज धर्म के रूढ़ रूप को स्वीकार नहीं करता। इस समाज में (शिक्षित समाज में) बदलती आस्थाओं का संघर्ष है। आज की पीढ़ी आस्था एवं अनास्था दोनों में किस ओर झुकी हुई है इसकी प्रतिध्वनि साहित्य में दिखाई दे सकती है और आज की साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर वर्तमान सत्य की विस्तृत व्याख्या की जा सकती है। यहाँ यह सब लिखने के लिये स्थान कहाँ? मूल बात जो कहनी है वह यह कि वैज्ञानिक सत्य तो स्वीकृत हो गया; किन्तु वह हमारे जीवन के अन्तरंग में प्रवेश नहीं पा सका है। जीवन में बाह्य परिवर्तन तो हो गया है, किन्तु अन्तर में अभी उसके प्रति आस्था का निर्माण नहीं हुआ है। सब कुछ पाकर भी हम अन्तर टटोलने की स्थिति में है। धर्म का प्रवेश हमारे जीवन में अब भी प्राचीन रूप में है। आज भी अनास्था से घबरा कर कभी कभी हम उसी सत्य की और निहारते हैं और उसी से आस्था प्राप्त कर जीवन में बल ग्रहण करते है। सत्य जब तक आस्था का विषय नहीं बनता, तब तक वह मानव जीवन को सुख

एवं शांति प्रदान नहीं कर सकता। समकालीन इतिहास-बोध की पीड़ा यही है कि आधुनिकता से सम्बन्धित इस 'सत्य' के प्रति आस्था का निर्माण नहीं हुआ है।

इस सत्य को आस्था का विषय कैसे बनाया जाए ? यही आज की प्रमुख समस्या है। यहाँ 'सत्य' से तात्पर्य नवीनतम ज्ञान एवं विज्ञान की उपलब्धियों के आधार पर स्वीकृत सत्य से है और इसी को चाहें तो आधुनिक सत्य कहा जा सकता है। इस सन्दर्भ में गांधीजी का उदाहरण लें। गांधीजी ने सत्य का दर्शन किया था और आधुनिक सन्दर्भ में किया था। प्रश्न होगा कि उन्होंने तो बहुत सी वैज्ञानिक उपलब्धियों को अस्वीकार कर दिया था, अतः उनके सत्य को आधुनिक सत्य के सन्दर्भ में कैसे लिया जा सकता है ? गान्धीजी एवं नेहरूजी का विरोध भी इसी आधार पर रहा है। सच बात तो यह है कि गान्धीजी का मूलतः वैज्ञानिक उपलब्धियों से विरोध नहीं था। किन्तु उनका ध्यान समाज (भारतीय समाज) के निम्न से निम्न व्यक्ति पर था। उन्होंने सत्य को आधुनिक संदर्भ में इस रूप में परिवर्तन करना चाहा कि देश का सामान्य व्यक्ति जिन वैज्ञानिक साधनों का उपयोग कर सकता है, उसका उपयोग वह मानव होने के नाते मानव बनकर अन्य मानवों के हितों को सन्दर्भ में रखकर करें। उन्होंने वैज्ञानिक उपलब्धियों के स्तर को समाज के निम्न धरातल से स्वीकार किया और जब उन्होंने यह अनुभव किया कि शहर ग्रामों की तुलना में अधिक सभ्य है तो उन्हें ग्राम को शहर बनाने की चिन्ता हुई। यों कहिए कि वैज्ञानिक सत्य को सर्व सुलभ बनाने की भावना उनमें थी और जब उन्होंने अनुभब किया कि देश की जनता को वह सब सुख सुलभ कराना कठिन है तो स्वयं उस प्राप्त सुख को छोड़ा और जो कुछ सर्वसाधारण की पहुँच के भीतर है, उसी को अपने जीवन में स्वीकार कर लिया। उनके बहुत से आन्दोलन इसी अर्थ–व्यवस्था को, जिस का प्रभाव साधारण व्यक्ति से है, को लक्ष्य में रखकर चलाए गए हैं। गान्धीजी ने वैज्ञानिक उपलब्धियों को नकारात्मक रूप में नहीं लिया। उन्होंने उसके व्यावहारिक दर्शन को स्वीकार किया। सत्य के आस्थावादी चिन्तक को गांधीजी के दर्शन से सत्य का व्यावहारिक रूप समझ में आएगा।

कहा जाता है कि गांधीजी का युग समाप्त हो गया। नेहरूजी ने भारत को बदल दिया। दोष देनेवाले उन्हें भी दोष दे सकते हैं। राजनीति में आज जो प्रमुख नेता देश की नीति का [निर्धारण कर रहे हैं, उसीके आधार पर वर्तमान भारत का रूप बन रहा है और उन्हीं को दृष्टि में रखते

हुए हम आगे बननेवाले भारत की कल्पना कर सकते हैं। यह नीति शासक दल की हो या विरोधी दल की हो। किसी भी दल की हो। जनता उसका निर्णय करेगी। विचारों की क्रान्ति समाज में हो रही है और उसका प्रभाव हमें आम चुनावो में दिखलाई दे रहा है। जनता में, विचारों में क्रान्ति का बीज बोनेवाले विचारक, चिन्तक या दार्शनिक ही हो सकते हैं और वे ही आधुनिक सत्य की सही व्याख्या कर सकते हैं। दार्शनिकों का या चिन्तकों का आधुनिक सत्य जीवन में कितना स्वीकृत हो गया है, इसकी परीक्षा साहित्य में स्वीकृत सत्य आधार पर की जा सकती है।

सत्य को आधुनिक संदर्भ में देखते समय हम आज अपने राष्ट्र की उपलब्धि तक ही (किसी भी क्षेत्र में) सीमित नहीं रह सकते। अब विश्व की उपलब्धियों की ओर भी दृष्टि जाना स्वाभाविक है। निश्चित ही यह दौड़ वैज्ञानिक क्षेत्र में हो सकती है। वैज्ञानिक साधनों को सर्व सुलभ बनाना और उनसे देश को उन्नत करना आधुनिक सत्य के निकट पहुँचना है, किन्तु इस होड़ में मानवीय संवेदना को जीवित रखना और तदनुकूल मानवीय व्यवस्था का निर्माण भी उतना ही आवश्यक है। यह समस्या बहुत बडी समस्या है। बर्ट्रेण्ड रसेल इस दृष्टि से जगत की समस्याओं पर विचार करनेवाले हुए हैं। उन्होंने कहा है :–

" जिन लोगों की विचार–शक्ति प्राणमय होती है अंत में चलकर उनकी शक्ति इससे कहीं अधिक होती है जितनी कि वे लोग समझते हैं, जो आधुनिक राजनीति की तर्कहीनता के शिकार हैं। " १

यह कार्य आज के चिन्तकों को करना है। आनेवाले वर्षों में हम कैसे रहेंगे इसकी कल्पना हम आज के चिन्तन की दिशाओं को देखकर ही कर सकते हैं। चीन एवं अमेरिका की कीर्ति को देखते हुए तथा भारत में नित्य नए राजनैतिक परिवर्तनों के संकेतों को देखते हुए भविष्य खतरनाक प्रतीत हो सकता है। किन्तु इस पर भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है। गत पच्चीस वर्षों की स्वतन्त्रता का इतिहास निराशाजनक नहीं है। भारत में काफी परिवर्तन हो गया है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदीजी ने इतिहास की धारा को पहचाना है और भविष्य के भारत की कल्पना की है। वे लिखते हैं :–

" मैं उन लोगों में नहीं हूँ जो सोचते हैं कि पिछले बीस वर्षों में (सन् ६७ में लिखा हुआ होने के कारण) कोई कल्याणकारी परिवर्तन नहीं हुआ है;

---

१. सामाजिक पुनर्निर्माण के सिद्धान्त––बर्ट्रेंड रसेल––पृ. १८९

खूब हुआ है, पर इसलिए नहीं कि किसी व्यक्ति ने या समूह ने कोई जादू का चिराग जला दिया था । जनता की उद्‌बुद्ध चेतना ने परिवर्तन कराया है । और भी होगा । हमारे घरौंदे बुरी तरह टूटेंगे । सरकार इसको कल्याणमय मोड़ देने में निमित्त बने तो अच्छा होगा, न बने तो थोडी-बहुत देर होगी । इतिहास विधाता के रथवेग को कोई रोक नहीं सकता । 'कर्तुम नेच्छसि यत्मोहात् करिष्यसि अवशोऽपितत्' अर्थात् जो मोहवश नहीं करना चाहोगे वह विवश होकर करना पडेगा । गीता का यह वाक्य सत्य सिद्ध होकर रहेगा।"–[१]

द्विवेदीजी की इन पंक्तियों में आशावादी दृष्टिकोण है । यह वैज्ञानिक सत्य को धर्म के निकट लानेवाला सत्य है । इस प्रकार की आस्था ही हमें आधुनिकता की पीड़ा से मुक्त होने में सहायक हो सकती है ।

(महावीर जयंती संस्मारिका, अप्रैल १९७१, हैदराबाद में 'सत्य : आधुनिक संदर्भ में' शीर्षक से प्रकाशित)

---

१. आलोचना––२८ (अप्रैल, जून ६७) पृ. ४२

नैतिकता

आधुनिक सत्य के साक्षात्कार को आस्थामूलक रूप म स्वीकार करना नैतिकता को आधुनिक धरातल पर स्वीकार करना है। नैतिकता वास्तव में मानव प्रकृति को नियंत्रित करनवाली सब से बडी शक्ति है । नैतिकता व्यक्ति और व्यक्ति, व्यक्ति और समाज, व्यक्ति और राष्ट्र यहाँ तक कि व्यक्ति और विश्व को जोड़ने वाले तार हैं। ये एक ऐसी शक्ति है, जो समाज को जीवित रखने के लिए आवश्यक है । नैतिकता की चरम परिणति तुलसी के शब्दों में –– " सियाराममय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुग पानी।" और कबीर के शब्दों में –– " लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल " है। यह शक्ति निरन्तर अभ्यास और साधना से ही प्राप्त हो सकती है । यह एक ऐसी शक्ति है, जो समाज को जीवित रखने के लिए आवश्यक है। व्यक्ति का सम्बन्ध व्यक्ति के साथ किस प्रकार का हो ? समाज में रहते हुए वह अपनी आत्मोन्नति कैसे करें ? अपने जीवन को सुख और शान्तिमय किस प्रकार बनाएँ ? इस सम्बन्ध में वह जिस शक्ति का सहारा लेता है, वह नैतिक शक्ति है। वास्तव में जगत नैतिक शक्तियों से बना हुआ है । प्रकृति में जितनी भी शक्तियाँ कार्यरत हैं या घूम रही हैं, वे एकात्मक हैं। उष्णता अलग नहीं है और न प्रकाश ही और न विद्युतशक्ति न ही गुरुत्वाकर्षण शक्ति । ये सब शक्तियाँ एक दूसरे से मिली हुई हैं । यही स्थिति नैतिक शक्तियों की है। वह एक प्रकार से क्रियाओं की प्यास है, हम जितना उसे एकत्रित करेंगे उतने ही उसके रूप और आकार होंगे।

नीति हमें बतलाती है ——यह करो, यह न करो । ऐसे चलो, ऐसे न चलो; ऐसे बैठो, ऐसे न बैठो; ऐसे कहो, ऐसे न कहो। इसी प्रकार का विधान नैतिक रूप में हमारे सामने आता है । प्राकृतिक रूप में मनुष्य अनैतिक ही होता है। नैतिक नियमों द्वारा उसका संस्कार होता है। इस संस्कार के बाद ही वह संस्कृत बनता है । बालक जब संसार में पदार्पण करता है, तो उसे जगत का ज्ञान नहीं होता । वह अपने माता-पिता परिवार के अन्य सदस्यों और तत्पश्चात् वह अन्यों से भी जगत का ज्ञान प्राप्त करता जाता है । वह सारा समाज जिसके बीच बालक रहता है, उस बालक को अप्रत्यक्ष रूप से अपने विधान का ज्ञान करा देता है। धीरे धीरे बालक स्वयं उस विधान से परिचित होता जाता है और अपने आपको उसके अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है। समाज के प्रतिकूल आचरण करने पर दण्ड और अनुकूल आचरण करने पर पुरस्कार उसे मिलते रहते हैं। ये स्वयं उसे अपने आपको संस्कारित बना लेने के लिए बाध्य करते रहते हैं। समाज में नैतिक विधान होता है। यह विधान लिखा हुआ नहीं होता किन्तु फिर भी यह विधान लिखे हुए विधान से अधिक शक्तिशाली होता है । समाज का यह विधान जितना अधिक सुसंगठित और व्यवस्थित होगा, समाज उतना ही सुसभ्य और सुसस्कृत होगा । यह बात मानी हुई है कि सभ्य समाज में सरकार की आवश्यकता कम होती है।

समाज में जिस प्रकार की सभ्यता और संस्कृति का निर्माण होता है उसी प्रकार की नैतिकता को वहाँ प्रश्रय मिलता है। आज मनुष्य प्रातःकाल से रात में सोने तक जितने नियमों का वह पालन करता है, उनको वह स्वयं नहीं जानता। खाने-पीने, रहने-सहने, उठने-बैठने, चलने-फिरने एवं जीवन के प्रत्येक व्यापार के नियम बने हुए हैं और इन नियमों का पालन मनुष्य बराबर करता जा रहा है। यदि इन्हीं नियमों का पालन आदेश देकर उससे करवाया जाता तो संभवतः वह नियमों के बोझ से मर जाता। किन्तु ऐसा नहीं होता। यह इसलिए कि जिस वातावरण में वह रहता आया है उसका वह आदी हो गया है। एक ही प्रकार का निरन्तर कार्य व्यक्ति को उस कार्य के प्रति सक्षम तो बनाता ही है साथ ही उस प्रकार के कार्य के प्रति रुचि और आस्था का निर्माण भी व्यक्ति में कर देता है। जो स्वभाव पड़ जाता है, वह फिर उसकी प्रकृति हो जाती है। भारत का रहने वाला अपने समाज की सभ्यता और संस्कृति का प्रेमी है। किसी अन्य देश के समाज के बीच वह अनोखेपन का अनुभव करेगा। उसका समायोजन शीघ्र नहीं होगा। किसी भी प्रकार के समाज के बीच रहने के लिए वहाँ के नैतिक विधान को

जानना आवश्यक है। यह नैतिक विधान एक दृष्टि से समाज विशेष के सभ्यता और संस्कृति का बोध करनेवाला रूप हैं। एक स्थान पर जो बातें नैतिक मानी जातीं हैं दूसरे स्थान पर वे एकदम अनैतिक हो सकती हैं और ठीक इसके विपरीत भी सत्य है। स्थान के साथ साथ समय समय की नैतिकता में भी अन्तर मिलेगा। एक ही देश में पंद्रहवीं शताब्दी में जो सामाजिक मूल्य थे वे सोलहवी में बदल गये और जो सोलहवी में थे वे आज बीसवी शताब्दी में नहीं हैं। अतः हम यहाँ कह सकते हैं कि नैतिकता देश, काल, समाज और राष्ट्र से सापेक्ष हैं। नैतिक मूल्यों के अध्ययन के लिए इन तत्त्वों का अध्ययन करना भी आवश्यक है।

आज तक का इतिहास इस बात की साक्ष देता है कि विजय उसी की हुई, जिसके पास शक्ति है और जिसके पास शक्ति है उसी की तूती बोलती है और उसी के बनाये नियम चलते हैं। वही विधान है और वही कानून है। इसीलिए किसी विद्वान ने ठीक ही कहा कि... 'नैतिकता और कुछ नहीं वह शक्तिशालियों का स्वार्थ है।' अपनी इच्छा से जिसे वे सत्य कहें, वह सत्य है और जिसे वे असत्य कहें, वह असत्य है, जिसे वे ठीक कहें, वह ठीक है और जिसे वे गलत कहें, वह गलत है। नियंत्रण का अधिकार समाज के अल्प-संख्यक विशिष्ट वर्ग के हाथ में ही रहा है। जान ड्यूई ने इस सम्बन्ध में लिखा है... 'सत्ताधिकारी व्यक्तियों ने नैतिक नियमों को वर्ग–प्रभुता का कितना ही माध्यम क्यों न बना लिया हो, कोई भी वह सिद्धान्त जो सुचि–न्तित उद्देश्य को नियम के उद्भव का कारण बताता है, मिथ्या है। अस्तित्व में आ गई परिस्थितियों से लाभ उठा लेना एक बात है, पर भविष्य में लाभ उठा लेने के उद्देश्य से उनका निर्माण करना सर्वथा दूसरी बात है?'[१] यह कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि नैतिक नियमों का आरम्भ से अब तक जो विकास हुआ है और अब भी उसका जो रूप बदल रहा है, उसमें मानव–प्रकृति के रहस्योद्घाटन का प्रमुख हाथ है। आरम्भ में शक्तिशालियों ने चाहे जो नैतिक विधान बनाया हो वह समय के अनुसार मानव–प्रकृति के अनुकूल न होने पर बदलता गया। जॉन ड्यूई का कथन––"जब तक नैतिकता की मानव–प्रकृति से और दोनों की परिवेश से अखण्डता स्वीकार नहीं कर ली जाती, तब तक हम जीवन की विकटतम एवं गहनतम समस्याओं से निपट लेने में विगत अनुभव की सहायता से वंचित रहेंगे। ठीक और

१. मानव प्रकृति और आचरण –– जॉन ड्यूई, अनुवादक : हरिश्चन्द्र विद्यालंकार–पृ, २.

विस्तृत ज्ञान तो विशुद्ध प्राविधिक समस्याओं के समाधान में प्रवर्तित रहेगा ही। प्रकृति, मनुष्य तथा समाज की अविच्छिन्नता की विचक्षण स्वीकृति से ही केवल नैतिकता का विकास हो सकता है, जो धार्मिक तो हो पर कट्टर न हो, महत्त्वाकांक्षी तो हो पर भावुक न हो, परम्पराओं से बंधा न होकर वास्तविकता के अनुकूल हो, लाभों की गणना का रूप तो धारण न करे पर व्यवहार कुशल हो; स्वप्नदर्शी न हो पर आदर्शप्रिय अवश्य हो।"[1] नैतिकता के वास्तविक स्वरूप का बोध कराता है।

नैतिकता के प्रति व्यक्ति का झुकाव सकारात्मक होना चाहिए। नकारात्मक नैतिकता समर्पण और भयप्रधान होती है। आज सब से बडी आवश्यकता इस बात की है कि संसार के प्रति हमारी आस्था बढे, हम समझें कि जगत हमारा है, इसे स्वर्ग और नरक बनाना हमारे हाथ में है। बर्ट्रेंड रसेल के शब्दों में... 'समर्पण की नैतिकता के बजाय अभिक्रमणशीलता की नैतिकता, भय की नैतिकता की जगह आशा की नैतिकता और उन कामों की नैतिकता की बजाय जो नहीं करने हैं, उन कामों की नैतिकता की स्थापना करनी होगी जो करने हैं।'[2] इस प्रकार के दृष्टिकोण को अपनाते हुए हमें अतीत के ज्ञान और अनुभव से पूरा पूरा लाभ उठाना है।

बर्ट्रेंड रसेल ने मनुष्य की समस्त क्रियाओं को मोटे तौर पर तीन भागों में विभाजित किया है--(१) सहज प्रवृत्ति (२) बुद्धि और (३) आत्मा। इन तीनों में से उन्होंने आत्मा के जीवन को धर्म का मूल माना है। सहज प्रवृत्ति का जीवन वह जीवन है जो मनुष्य और निम्नतर पशुओं में समान रूप से देखा जा सकता है। इस जीवन में ऐसे आवेग सम्मिलित हैं जिनका मूल उद्देश्य सफलता प्राप्त करना है। ये आवेग मनुष्य में निहित पशु-प्रकृति और प्रतिद्वंद्वियों के बीच उनकी स्थिति को व्यक्त करते हैं। बुद्धि का जीवन ज्ञान की खोजवाला जीवन है। जिज्ञासा ऐसा आवेग है जिस पर सारा ज्ञान और विज्ञान स्थित है। बुद्धि का जीवन चिंतनप्रधान होता है। यह जीवन कुछ हद तक अवैयक्तिक होता है। आत्मा का जीवन अवैयक्तिक भावना पर आधारित होता है। धर्म का सम्बन्ध आत्मा से ही है। सहज प्रवृत्तियों और बुद्धि इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करने का काम आत्मा का जीवन ही करता है। नैतिकता की

---

१. मानव प्रकृति और आचरण--जॉन ड्यूई, अनुवादक : हरिश्चन्द्र विद्यालंकार-पृ. ९.

२. सामाजिक पुर्ननिर्माण के सिद्धान्त-बर्ट्रेंड रसेल-अनुवादक : मुनीश सक्सेना पृ. १७०.

चरम परिणति इसी में है। सहज प्रवृत्तियों से ऊपर उठने के लिए हमें बौद्धिक जीवन में प्रवेश करना पड़ता है किन्तु बुद्धि तर्कप्रधान होती है अतः उससे भी ऊपर हमें आत्मिक जीवन की ओर उठना पड़ता है। नैतिकता हमें अनेकता में एकता के सूक्ष्म सूत्रों का ज्ञान कराती है और हमें भावना के उस स्तर तक पहुँचा देती है जहाँ हम जगत को--सियाराममय देखने लगते हैं।

('जैन ज्योत्स्ना', शास्त्रीजी स्मृति-अंक २ अक्तूबर १९६६, हैदराबाद, में इसी शीर्षक से प्रकाशित)

आधार

'राष्ट्रीयता' राजनैतिक शब्द है। इस का सम्बन्ध राष्ट्र के इतिहास से है। प्रत्येक राष्ट्र का इतिहास अलग–अलग है, अतः प्रत्येक राष्ट्र की राष्ट्रीयता की कल्पना, राष्ट्रीयता की व्याख्या या राष्ट्रीयता की रूपरेखा अलग अलग है। राष्ट्रीयता (विशेष रूप से राजनैतिक अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी) किसी राष्ट्र के सांस्कृतिक मानदण्डों को भाव रूप में किसी राष्ट्र विशेष के नागरिकों में जगाए रखने का काम करती है। इस आधार पर राष्ट्र विशेष के नागरिक अपने सांस्कृतिक मानदण्डो की रक्षा–हेतु राजनैतिक शक्ति का सहारा लेकर एक होते हैं। इस आधार पर युद्ध होते हैं और ऐसे समय में राष्ट्रीयता की व्याख्या सामयिक (समय विशेष में) परिस्थितियों के अनुसार (राष्ट्र विशेष के ऐतिहासिक संदर्भ को ध्यान में रखकर) की जाने लगती है। यह सब होनेपर भी राष्ट्रीयता शब्द का प्रयोग सभी राष्ट्रों की राष्ट्रीयता के लिए समान रूप से किया जाता है। शब्द का प्रयोग समान होने पर भी राष्ट्रीयता का अर्थ अलग अलग होने के कारण राष्ट्रों में संघर्ष होता है। इस संघर्ष को टालने का प्रयास किया जा सकता है, यदि विभिन्न राष्ट्र अपनी अपनी राष्ट्रीय मान्यताओं को (यहाँ राष्ट्रीयता को) दूसरे राष्ट्र की राष्ट्रीय मान्यताओं के संदर्भ में विचार करने का प्रयत्न करें। अर्थात् राष्ट्रीयता की धारणा विश्व में विभिन्न राष्ट्रों में जैसे–जैसे एक अर्थ में प्रयुक्त होने की दिशा में आगे बढेगी

वैसे-वैसे संघर्ष की संभावना कम होगी। विश्व की एकता में राष्ट्रीयता बाधक है। चाहे साम्यवाद को स्वीकार कर लें या पूंजीवाद को (इन दोनों को विश्व की एकता में परस्पर बाधक मानने वाले कारण के रूप में देखा जाता है) राष्ट्रीयता तब भी बनी रहेगी और इससे सहज छुटकारा निकट भविष्य में संभव नहीं है। राष्ट्रीयता के संदर्भ और अर्थ बदलेंगे किन्तु राष्ट्रीयता रहेगी। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीयता पर वर्तमान संदर्भ में विचार किया जा सकता है। विशेष रूप से बंगला देश के निर्माण के बाद, पाकिस्तान की करारी हार के बाद और तो और निक्सन की चीन-यात्रा के बाद राष्ट्रीयता की धारणा बदल रही है। इस बदलती राष्ट्रीयता में 'धर्म' की दुहाई देनेवाले राष्ट्रों की आवाज मंद हो रही है। 'धर्म' जो किसी समय में (विशेष रूप से मध्यकाल में) सत्ता का प्रमुख आधार रहा है, आज उसके हाथ से सत्ता छीन ली जा रही है। 'धार्मिकता' का विरोध 'आधुनिकता' से है और आधुनिकता राष्ट्रीयता को नया रूप दे रही है। निक्सन की चीन-यात्रा से यह बात साफ हो गई है कि वादविशेष (पूंजीवाद और साम्यवाद) के आधार पर अब राष्ट्रीय हितों पर विचार नहीं होता। स्थिति अब कुछ ऐसी हो गई है कि राष्ट्रीयता एक नये धर्म के रूप में सामने आ रही है। यह नया धर्म राजनैतिक है। इस समय भी 'धर्म' को राजनीति से अलग रखने का प्रयत्न होता है, किन्तु जो इतिहास का अध्ययन राजनैतिक स्तर पर करते हैं (सत्ताओं के लिये संघर्ष के रूप में करते हैं), वे जानते हैं कि धर्म अब भी राष्ट्रीयता का प्रमुख आधार बना हुआ है। राष्ट्रीय आधार पर विभिन्न धर्मों को एकरूपता देने का प्रयास होता है। यह प्रयास तत्त्वरूप में होता है, व्यावहारिक आधार पर तथा राजनैतिक अधिकारों के संदर्भ में होता है और जनसामान्य में बदलती शिक्षा के कारण होता है। अतः धर्म हो या राष्ट्रीयता इन दोनों को सामाजिक तथा राजनैतिक मूल्यों का आधार माना जा सकता है। दोनों ही प्रकार के मूल्यों से आज के व्यक्ति का सहज छुटकारा नहीं।

राष्ट्रीयता के सामान्य तत्त्व

प्रत्येक राष्ट्र की राष्ट्रीयता अलग अलग होने पर भी सब राष्ट्रों में राष्ट्र विशेष के सामान्य धर्म या लक्षण पाये जाते हैं। उन्हें संक्षेप में निम्न रूप में समझा जा सकता है।

१. प्रत्येक राष्ट्र का आधार भूभाग है। अर्थात् राष्ट्र की राजनैतिक सीमाएँ बनी हुई हैं। इस भूभाग से राष्ट्र के नागरिक सम्बद्ध

होने के कारण उनका उस भूभाग से सहज (प्राकृतिक) प्रेम होता है। इस प्रेम को मातृभूमि से प्रेम के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है।

२. राष्ट्रीयता का सम्बन्ध मातृभूमि की भौगोलिक सीमाओं (राज-नैतिक रूप में मान्यता प्राप्त) में रहनेवाले जनसमूह के समान सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक हितों से है। इस आधार पर राष्ट्रीयता निश्चित होती है।

३. प्रत्येक राष्ट्र में राजनैतिक एकता अपेक्षित है और अन्य राष्ट्रों से उसका सम्बन्ध (विदेश नीति) इस एकता के आधार पर ही संभव है।

४. प्रत्येक राष्ट्र (यदि उसे राष्ट्र के रूप में स्वीकृति प्राप्त है) राज-नैतिक दृष्टि से स्वतंत्र है, ऐसा माना जाता है।

ये चार प्रमुख तत्त्व ऐसे हैं, जिन्हें राष्ट्रीयता के सामान्य लक्षण कहा जा सकता है। राष्ट्रीयता के ये लक्षण ऐसे हैं, जिन्हें व्यक्ति को राष्ट्रीय मूल्य के रूप में स्वीकार करना पड़ता है। इन मूल्यों से सहज में व्यक्ति का बचाव संभव नहीं।

ऊपर जो राष्ट्रीयता के प्रमुख तत्त्व बतलाए गए हैं, उनमें प्रथम दोनों तत्त्वों के सम्बन्ध में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वास्तव में ये दोनों ही तत्त्व राष्ट्रीयता की रीढ़ हैं। विवादास्पद स्थिति तीसरे तत्त्व तथा चौथे तत्त्व में संभव है। तीसरे तत्त्व का सम्बन्ध राष्ट्र की राजनैतिक व्यवस्था (शासन-पद्धति) से है। चौथा तत्त्व अन्य तत्त्वों का परिणाम है। प्रत्येक तत्त्व का स्वतंत्र रूप से विवेचन नीचे किया जा रहा है।

१. प्रथम तत्त्व सब से प्रधान है— मातृभूमि से नैसर्गिक स्नेह। यह धरती से सम्बन्ध है और इस सम्बन्ध या मूल्य की रक्षा के लिए अन्य सब तत्त्वों की उपेक्षा की जाती है। स्वतंत्र राष्ट्रों को (जिनमें राष्ट्रीयता के चारों तत्त्व पाए जाते हैं) हम छोड दें और ऐसे राष्ट्रों के सम्बन्ध में हम विचार करें, जो अन्य राष्ट्रों के दबाव में है या गुलाम है, उस स्थिति में भी उस राष्ट्र (राष्ट्र नाम की संज्ञा प्राप्त न होनेपर भी) के नागरिकों में (मूल निवासियों में) अपनी धरती से सहज (नैसर्गिक) स्नेह होता है। इस तत्त्व की अभिव्यक्ति प्रत्येक राष्ट्र के राष्ट्रीय गीत के माध्यम से होती है। 'वन्दे मातरम्' तथा 'जनगणमन' दोनों ही गीतों के अर्थों का यदि विश्लेषण करें तो इस तत्त्व की प्रधा-

नता का बोध होगा । इस तत्त्व की प्रधानता के आधार पर बहुत सा साहित्य रचा गया है और इस साहित्य को राष्ट्रीय साहित्य माना गया है।

२. दूसरा तत्त्व : राष्ट्र के नागरिकों के अपन बोध से सम्बन्धित है। यह बोध ऐतिहासिक–बोध है । राष्ट्र के नागरिक अपने आप को पहचाने । अपने आपको पहचानने में उन्हें अपनी उपलब्धियों का ज्ञान होगा। उन्हें अपने भूभाग की सीमाओं का ज्ञान हो। उन्हें अपने भूभाग के इतिहास–भूगोल मालूम हो और इस आधार पर राष्ट्र के नागरिक अपने समान सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक हित को समझें। इस बोध के आधार पर प्रथम तत्त्व को चेतनावस्था प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में गुप्तजी की ये पंक्तियाँ उपयुक्त प्रतीत होती हैं :–

> 'हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी।
> आओ मिलकर हम विचारें, ये समस्याएँ सभी'।

यहाँ हम के अन्तर्गत, वे सब नागररिक हैं, जो राष्ट्र के भूभाग (राजनैतिक सीमाओं में रहनेवाले) में रहते हैं और समान सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक हितों के सम्बन्ध में सोचते हैं। इसपर आधार राष्ट्रीयता जागरण का रूप लेती है और ल्वतंत्रता की ओर अग्रसर होती है। इस प्रकार से लिखा गया साहित्य राष्ट्र की यथार्थ ऐतिहासिक परिस्थितियों से सम्बन्धित होता है। इस आधार पर राष्ट्र के नागरिक एक होते हैं और अपने हितों की रक्षा के लिए प्रयत्न करते हैं।

३. तीसरा तत्त्व प्रमुख रूप से राष्ट्र की राजनैतिक स्थिति से सम्बन्धित है । राजनैतिक स्थिति विवादास्पद होती है । इस स्थिति पर राष्ट्र के नागरिकों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति निर्भर रहती है। राष्ट्र में राजनैतिक स्थिरता यदि होगी (सरकार मजबूत होगी) तो वह राष्ट्र बलवान माना जायगा । इस आधार पर वह स्वतंत्र विदेश नीति का पालन करने में समर्थ होगा। राष्ट्री–यता को सब से अधिक खतरा, उसकी राजनैतिक-स्थिति से होता है। इस आधार पर ही राष्ट्रीयता को हम राजनैतिक शब्द कहते हैं। राजनैतिक स्थिति का सम्बन्ध राष्ट्र की शासन–व्यवस्था

(संविधान विशेष) से होता है । इस व्यवस्था के आधार पर राष्ट्रीय-हितों की (ऊपर बतलाये गये राष्ट्रीयता के दोनों तत्त्वों की) रक्षा की जाती हैं । इस आधार पर राष्ट्रीयता की पहचान होती है । शासन-तंत्र यदि राजतंत्र से सम्बन्धित है, तो वहाँ की राष्ट्रीयता राजतंत्र के अनुसार होगी । इसी तरह सैनिक-तंत्र की राष्ट्रीयता और जनतंत्र की राष्ट्रीयता भिन्न भिन्न होगी। विश्व में आज जितने राष्ट्र हैं (संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा जिनको मान्यता मिल गई है), उन में एक प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था (शासन-तंत्र) नहीं है । व्यवस्था में भिन्नता होने के कारण राष्ट्रीयता की धारणा में (ऐतिहासिक–बोध में) अन्तर विद्यमान रहना स्वाभाविक है । ऊपर के दोनों तत्त्व सभी राष्ट्रों में समान रूप से पाये जाने पर भी इस तीसरे के कारण राष्ट्रीयता का स्वरूप बदलता प्रतीत होता है । प्रत्येक प्रकार के शासन–तंत्र के आधार पर राष्ट्रीयता की विशेषताओं में जो अन्तर विद्यमान रहता है, उसका विश्लेषण, उस-उस देश के ऐतिहासिक संदर्भों को ध्यान में रखकर किया जा सकता है। यहाँ यह समझ लिया जा सकता है कि समान राजनैतिक–व्यवस्था यदि दो राष्ट्रों में वर्तमान है, तो उन दो राष्ट्रों मे राष्ट्रीयता की धारणा अधिक निकट होगी। भारतवर्ष में जनतंत्र की व्यवस्था है अतः यहां की राष्ट्रीयता, उन राष्ट्रों की राष्ट्रीयता के अधिक निकट है, जहाँ जनतंत्र की व्यवस्था पाई जाती है। इस अर्थ में ब्रिटेन और अमेरिका की राष्ट्रीयता भारत की राष्ट्रीयता के अधिक निकट है, ऐसा कहा जा सकता है।

४. चौथा तत्त्व, ऊपर के तीनों तत्त्वों का परिणाम है । इस आधार पर उस की पहचान को अन्य राष्ट्र स्वीकार कर लेते हैं। उदाहरण के लिए बंगला-देश की राष्ट्रीयता को अब अनेक राष्ट्रों ने स्वीकार कर लिया है। इस चौथे तत्त्व के अभाव में और तत्त्व अनपहचाने रह जाते हैं, अतः इस तत्त्व का महत्त्व किसी राष्ट्र विशेष के अपने आप में सुदृढ़ होने से सम्बन्धित है । इस आधार पर राष्ट्र की क्षमता और स्थिरता की पहचान होती है ।

राष्ट्रीयता के इन तत्त्वों के आधार पर राष्ट्रीयता की रूपरेखा स्पष्ट होती है।

धर्म और मूल्य

धर्म का सम्बन्ध समाज की व्यवस्था से है। धर्म की यह व्यवस्था अधिक व्यापक है और बिना राजनैतिक बंधन के सम्बन्धित समाज में (धर्म विशेष के) अधिक दृढ़ता से मान्य तथा स्वीकृत है। धर्म का सम्बन्ध एक निश्चित विचारधारा से है और यह विचारधारा एक प्रकार से स्वीकृत विचारधारा है। इस स्वीकृति में विश्वास, श्रद्धा तथा भक्ति का योगदान है। इस योगदान के कारण सम्बन्धित समाज एक प्रकार की व्यवस्था का पालन करता है। व्यवस्था का यह तंत्र (धर्म सम्बन्धी) विश्वास के आधार पर चलता है और इसलिए इस व्यवस्था को परम्परा का बल प्राप्त है। आज भी धार्मिक और राष्ट्रीय दोनों मूल्यों में यदि चुनौती का प्रश्न उपस्थित हुआ तो धार्मिक मूल्य को स्वीकार करनेवालों की संख्या विश्व में अधिक मिलेगी। इसका कारण यह है कि राष्ट्रीय मूल्यों का सम्बन्ध राजनैतिक सीमाओं में बद्ध है, जब कि धार्मिक मूल्यों की कोई राजनैतिक सीमाएँ नहीं हैं। अमरीकी नागरिक एवं रूसी नागरिक के राष्ट्रीय मूल्य अलग-अलग हो सकते हैं और उन दोनों के धार्मिक मूल्य एक हो सकते हैं। इस अर्थ में धर्म का प्रभाव समाज की व्यवस्था से आज भी घनिष्ट है, ऐसा मानना पड़ेगा। अधिक विस्तार में जाने से पूर्व धर्म के सामान्य तत्त्व नीचे लिखे जा रहे हैं।

१. धर्म (चाहे कोई भी हो) की राजनैतिक सीमाएं नहीं होती। सारे विश्व में धर्म अपना विस्तार चाहता है।

२. धर्म का सम्बन्ध विचारधारा (दर्शन विशेष) से होता है। यह विचारधारा समाजविशेष में (विश्व समाज में जहाँ जहाँ उसको मान्यता प्राप्त है) विश्वास के आधार पर बल ग्रहण करती है। धर्म का शासन व्यावहारिक दृष्टि से अधिक मान्य है और इस आधार पर मानव के सामान्य हितों की व्यवस्था का प्रबन्ध किया जाता है। इस विचारधारा का विरोध यदि राजनैतिक व्यवस्था के आधार पर होता है, तो संघर्ष होता है। सभी प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था इस व्यवस्था के बल से परिचित है और इस व्यवस्था का वह आदर ही नहीं उसकी सुरक्षा का आश्वासन भी वह देती रहती है।

३. धर्म के आधार पर समाज का संगठन शक्तिशाली होता है। एक प्रकार से इस आधार पर समाज में स्थिर मूल्यों की पहचान होती है। परम्परा का उपयोग इस आधार पर अधिक होता है। इन मूल्यों का (धार्मिक मूल्यों का) विरोध व्यक्ति के लिए बहुत कठिन है। धार्मिक मूल्य प्राय: सामाजिक मूल्य होते हैं। व्यक्ति से समाज और समाज से फिर ये राजनीति की ओर अग्रसर होते हैं। इस आधार पर राष्ट्रीय मूल्य तथा धार्मिक मूल्य दोनों का संघर्ष होता है। धर्म को यदि राजनीति के द्वारा प्रश्रय प्राप्त हो जाता है, तो राजनीति धार्मिक मूल्यों से प्रभावित होती है। इस अर्थ में राष्ट्रीयता धार्मिक मूल्यों से युक्त होती है। धर्म की यह स्थिति विवादास्पद हे।

४. धर्म का शासन आत्मानुशासन है और यह शासन व्यक्ति को सब बाधाओं से छुटकारा दिलानेवाला है। यह शासन आस्थामूलक हैं। इसके आधार पर व्यक्ति को जीवित रहने का बल मिलता है। धर्म की अनिश्चितता आस्था की अनिश्चितता है और यह अनिश्चितता जीवनी शक्ति से रहित होती है। धर्म (चाहे कोई भी हो) जीवन का सम्बल है और इस आधार पर अनेक मूल्यों का उत्सर्ग कर इस मूल्य की रक्षा का प्रयत्न मानव जाति करते आई है।

धर्म के ये सब तत्त्व सामान्य हैं। सभी धर्मों में ये लक्षण मिल सकते हैं। धर्म के आधार पर यदि इतिहास का अध्ययन करें और धर्म का प्रभाव समाज पर जिस रूप में रहा है, इसका विश्लेषण तथ्यों के आधार पर करें तो ज्ञात होगा कि धर्म ने सत्ताओं पर (राजनैतिक सत्ताओं पर) अधिकार किया है। धर्मगुरुओं का शासन राजाओं ने स्वीकार किया है और यहा माना गया है कि राजाओं का कर्तव्य धर्म की रक्षा करना है। क्षात्र–वृत्ति धर्म रक्षणार्थ अपनानी चाहिए ऐसी मान्यता रही है। इतिहास के आधार पर इस दृष्टि से अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जहाँ धर्म ने राजनीति में प्रवेश किया और युद्ध हुए हैं। उदाहरणों के विस्तार में न जाते हुए, यहाँ इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि धर्म का राजनीति पर प्रभाव अक्षुण्ण है और इस प्रभाव के कारण राष्ट्रीयता प्रभावित होती है।

आज यह प्रश्न विचारणीय है कि राष्ट्रीय मूल्य और धार्मिक मूल्य में मानवीय मूल्यों का स्थान क्या है? राष्ट्रीय मूल्य बंधे हुए मूल्य हैं और इसी तरह धार्मिक मूल्य भी बंधे हुए मूल्य हैं। इन मूल्यों की सीमाएं हैं। इन मूल्यों में ही सामान्य मानवीय मूल्यों की खोज में हम सब संलग्न हैं।

मध्यकाल में धर्म के आधार पर युद्ध हुए हैं। वह धार्मिक उन्माद अब नहीं रहा है। कम से कम विश्व में अब ऐसी स्थिति का निर्माण हो गया है कि ईसाई हो, हिन्दू हो, मुसलमान हो, बौद्ध हो और कोई धर्म हो, सभी एक दूसरे के अस्तित्व को सहन करना सीख गए हैं। अब युद्ध का प्रमुख कारण धर्म नहीं रहा है। भारत का विभाजन धर्म के आधार पर हुआ। पाकिस्तान के निर्माण में 'धर्म' प्रमुख तत्त्व रहा है। इस आधार पर भारत की राष्ट्रीयता और पाकिस्तान की राष्ट्रीयता में अंतर है। जिस आधार पर (धर्म के आधार पर) पाकिस्तान का निर्माण हुआ, वह आधार कितना गलत रहा है, इस का उदाहरण पाकिस्तान का इन पच्चीस बरसों का इतिहास है। धर्म के आधार पर जनजीवन का हस्तांतरण संभव नहीं। ये विचार कि सारे मुसलमान पाकिस्तान में चले जाएं और सारे हिंदू भारत में रहें और जो जहाँ है, वहाँ रहकर अपने धर्म को बदल दें। यह सब व्यावहारिक नहीं है। भारत तो धर्म निरपेक्ष राष्ट्र की नीति का पालन कर रहा है। किंतु स्वयं पाकिस्तान जिसकी रीढ़ धर्म है, वह भी आज अपनी इस रीढ़ को कमजोर मानने पर विवश हो गया है। बंगला देश का निर्माण धर्म के आधार पर नहीं हुआ और न ही इस युद्ध के पीछे ऐसी कोई भूमिका ही रही है। अतः अब यह मान लिया जा सकता है कि भविष्य में धर्म का

प्रभाव घटता जाएगा और वह युद्ध का एकमात्र कारण नहीं रहेगा। जहाँ कहीं ऐसा माना गया है और माना जा रहा है, वहाँ इस प्रकार की नीति में परिवर्तन हो रहा है।

यब युद्ध का कारण धर्म नहीं राष्ट्रीयता है। यह राष्ट्रीयता धर्म से अब भी प्रभावित होती है। धर्म का यह प्रभाव अब प्रत्यक्ष नहीं रहा है। कोई भी राष्ट्र अब खुलकर धर्म की दुहाई, मध्यकाल के रूप में नहीं दे सकता। जिन राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्र संघ में मान्यता मिल गई है, उन्हें वहाँ प्रति-निधित्व प्राप्त है और वे जानते हैं कि अब इस आवाज और घोषणा का विश्व की राजनीति में विशेष प्रभाव नहीं है। कुछ राष्ट्र जो इस आधार पर विश्व में अपना अलग संगठन बनाने का प्रयत्न करते हैं, उनका यह प्रयत्न किसी भी रूप में सफल होता नहीं दीखता। पाकिस्तान के इस प्रकार के प्रयत्न विफल रहे हैं। यह सब होने पर भी धर्म का प्रभाव राष्ट्र पर जिस रूप में है, वह राष्ट्र की आन्तरिक समस्या के रूप में है। इस आधार पर राष्ट्रीयता के लिए (राष्ट्र के भीतर ही) कभी कभी खतरा पैंदा हो जाता है इस दृष्टि से धर्म के प्रभाव का विश्लेषण किया जा सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति के उसके अपने नैतिक मूल्य, उसके अपने धर्म के आधार पर निश्चित होते हैं। इन मूल्यों पर व्यक्ति सहज रूप से (बिना राजनैतिक बधन के) नियंत्रित रहता हैं। यदि व्यक्ति यह अनुभव करता है कि उसके इन मूल्योंपर राजनीति का हस्तक्षेप हो रहा है, तो व्यक्ति सामूहिक रूप से राजनीति का बिरोध करता है। राजनैतिक मूल्यों एवं धार्मिक मूल्यों दोनों में व्यक्ति को धार्मिक मूल्य अधिक मान्य होते हैं। धार्मिक मूल्यों के साथ व्यक्ति का रागात्मक सम्बन्ध होता है और इन मूल्यों के आधार पर व्यक्ति न केवल इस लोक की समस्याओं से छुटकारा पाता है बल्कि आनेवाले (अनागत) लोक से भी छुटकारे के प्रति उसके विश्वास प्राय: स्थिर रहते हैं। व्यावहारिक धरातल पर धार्मिक मूल्य व्यक्ति को (सम्बधित समाज को) अधिक मान्य होते है।

धर्म का विरोध (प्राय: सभी धर्मों का विरोध) विज्ञान ने और बाद में राजनिति ने किया है। धार्मिक आस्था को अंधविश्वास कहा गया। ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किए गए जिससे धार्मिक मान्यताएँ ढहने लगीं। जहाँ तक विज्ञान ने धर्म का विरोध प्रमाणों के आधार पर किया हैं, उस विरोध को मान्यता मिली है और समय समय पर मान्यताओं में संशोधन हो रहा हैं। आज की

शिक्षा एक प्रकार से विज्ञान की शिक्षा का रूप धारण कर रही है। इस सम्बन्ध में डॉ. नगेन्द्र ने लिखा हैं — 'शिक्षा का प्रचलित अर्थ एक प्रकार से आधुनिक प्रयोग है। प्राचीन युग में इस संदर्भ में प्राय: 'विद्या' शब्द का प्रयोग होता था और विद्या का अनिवार्य सम्बन्ध था धर्म के साथ। विद्या जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण — वस्तुत: मूलभूत — साधन थी, परन्तु वह साधन ही रही, साध्य कभी नहीं बनी। विद्या के दो उद्देश्य थे — तत्त्विक दृष्टि से सत्यासत्य का और व्यावहारिक दृष्टि से कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान। सत्यासत्य का ज्ञान ही वास्तव में कर्तव्याकर्तव्य का निर्णायक है। अत: विद्या का धर्म के साथ अनिवार्य सम्बन्ध माना गया। विद्या और धर्म का यह समन्वय मानव व्यक्तित्व के निर्माण का आधार है, जो आज भी शिक्षा का चरम उद्देश्य है।'[1] इस अर्थ में यदि आज की शिक्षा-पद्धति पर विचार करें तो यह सहज ही में ज्ञांत हो जाएगा कि शिक्षा का सम्बन्ध अब धर्म से अनिवार्य रूप में नहीं रह गया है और इसके न रहने का एक बड़ा कारण विज्ञान है। विज्ञान ने अनेक धार्मिक मान्यताओं का खण्डन किया है। विज्ञान के कारण धार्मिक आस्था को चोट पहुँची हैं। इस संबंध में अनेक उदाहरण दिये जा सकते है। संक्षेप में यह समझ लिया जा सकता है कि धर्म के द्वारा दी गई व्यवस्था (धर्मशास्त्रियों के अनुसार) विज्ञान के द्वारा (ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में) दी गई व्यवस्था की तुलना में अब अधिक मान्य नहीं है। तात्त्विक दृष्टि से विज्ञान, ज्ञान की व्यवस्थित खोज ही है। यह खोज निरन्तर जारी है। इस अर्थ में विज्ञान की उपयोगिता व्यावहारिक दृष्टि से अधिक है। शिक्षा न केवल साधन अपितु अब साध्य भी है और उसके द्वारा अब जगत की तकनीक बदल रही है। विज्ञान की यह शिक्षा अपने आप में सामान्य होने के नातें, उसका उपयोग सभी धर्मों के माननेवाले के लिए होने के नाते और तो और उसकी सीमा में चर-अचर को समान रूप से स्थान प्राप्त होने के नाते, इस ओर शिक्षा का ध्यान इस समय सर्वाधिक है। विज्ञान के विषय के सिद्धान्त और विज्ञान के परिणाम सार्वभौमिक है। अमेरिका या रूस में यदि किसी क्षेत्र में इस दृष्टि से कोई उपलब्धि होती है, तो उस उपलब्धि को जगत भर में (विश्व की उपलब्धि) उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जाता है विज्ञान धर्मनिरपेक्ष है और वस्तु सत्य में विश्वास करनेवाला है।

राष्ट्रीयता के संदर्भ में धर्म और विज्ञान का सम्बन्ध देखा जा सकता है। जहाँ तक शिक्षा का क्षेत्र है, उस पर अब सरकार का नियंत्रण

---

१. साहित्य-परिचय (शैक्षिक-उद्देश्य। विशेषांक) - जनवरी - फरवरी-१९७२-पृ. ३४.

है। यह नियंत्रण अेक प्रकार से राष्ट्रीय नियंत्रण है। इसे राष्ट्रीय कहते समय यह ध्यान में रखा गया है कि राष्ट्र की सरकार अपनी राष्ट्रीयता को बनाए रखने की दृष्टि से शिक्षा-सम्बन्धी नीति का पालन इस रूप में करेगी जिससे कि राष्ट्रीय हितों की हानि न हो। इस अर्थ में राष्ट्रीय स्तर पर जिन शिक्षा-संस्थाओं को चलाया जायगा उनमें (उन शिक्षा-संस्थाओं में) धर्म का अब महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रहेगा। इस तुलना में विज्ञान को अधिक स्थान प्राप्त होगा। धर्म की शिक्षा का रूप अब वैज्ञानिक आधार पर हो रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में अब राजनैतिक उद्देश्यों का प्रवेश हो गया है। इस प्रवेश को विद्याप्रेमी हितकर नहीं मानते किन्तु यह प्रवेश वे अपनी आँखों से देख रहे हैं। विद्याप्रेमी शब्दका प्रयोग डॉ० नगेन्द्र के अर्थ के अनुसार--शिक्षा का धर्म के साथ अनिवार्य सम्बन्ध किया गया हैं। विद्याप्रेमियों के मन में आक्रोश का भाव है। उनका यह आक्रोश उनकी अपनी धार्मिक आस्था का एक कारण है। इसी तरह विद्याप्रेमियों के मन में राजनैतिक प्रवृत्तियों के प्रति अनास्था मूलक दृष्टि भी है। ऐसी स्थिति में मानवीय मूल्य व्यावहारिक धरातल पर प्रश्न-चिन्ह की स्थिति में हैं।

अब हम राष्ट्रीयता का विश्लेषण राष्ट्र विशेष के ऐतिहासिक संदर्भ में कर सकते हैं। राष्ट्रीयता के जो चार सामान्य तत्त्व पीछे बतलाए गये हैं, उनमें से दूसरे तत्त्व के व्यावहारिक पहलू पर विचार किया जा सकता है। इसी तरह तीसरा तत्त्व भी विचारणीय है। दूसरे तत्त्व के अन्तर्गत ऐतिहासिक बोध है और तीसरे के अन्तर्गत राजनैतिक व्यवस्था है। ये दोनों ही तत्त्व ऐसे हैं जो राष्ट्रीयता के लिए चुनौती का काम करते हैं। राष्ट्रीयता का निर्माण जिन तत्त्वों के आधार पर होता है, वे तत्त्व राजनैतिक व्यवस्था से सम्बध रखने के कारण गतिशील होते हैं। ऐतिहासिक बोध और राजनैतिक व्यवस्था दोनों ही तत्त्व गतिशील हैं। ऐतिहासिक बोध बदलता है, तो राजनैतिक व्यवस्था बदलती है। और राजनैतिक व्यवस्था बदलती है, तो राष्ट्रीयता बदलती है। इस दृष्टि से राष्ट्रीयता पर विचार करते समय राष्ट्र के ऐतिहासिक बोध पर विचार करना आवश्यक हो जाता है और इस माध्यम से धर्म का राष्ट्रीयता पर जो प्रभाव है, उसे स्पष्ट किया जा सकता है। ऊपर के विश्लेषण से एक बात स्पष्ट हो गई कि अब धर्म का प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उतना नहीं है जितना मध्यकाल में था। अर्थात् आज विश्व शान्ति को धर्म का खतरा नहीं है। धर्म के कारण अब विश्व में युद्ध नहीं होगा। विश्व का इतिहास-बोध इस दृष्टि से काफी समुन्नत हो गया है। आज विएतनाम में कुछ गड़बड़ होती है या बंगला देश मुक्त

होता है, तो उसका प्रभाव सारे विश्व की राजनीति पर पड़ता है। इस अर्थ में विश्व का इतिहास–बोध उन्नत हो गया है, कहा जा रहा है। यहाँ तक कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय नीति का निर्धारण करते समय अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का ध्यान रखना सीख रहे हैं। इस अर्थ में (अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का ध्यान रखने के संदर्भ में) कोई भी राष्ट्र धार्मिक नीति का अनुसरण नहीं कर सकता। यदि कोई राष्ट्र धर्मोन्माद के आधार पर जीने का प्रयत्न करेगा तो अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ उस राष्ट्र को अपनी नीति बदलने पर मजबूर कर देगी। इतिहास और राजनीति के विद्यार्थी इस बात को अच्छी तरह जानते हैं। अब धर्म का प्रभाव राष्ट्र के भीतर है। यह प्रभाव राष्ट्र को संस्कृति के रूप में स्वीकृत हो रहा है और अभिव्यक्ति पा रहा है।

एक राष्ट्र में आज अनेकों धर्म के लोग रहते हैं। सब धर्मों की समाज व्यवस्था भिन्न-भिन्न है। उनकी यह भिन्नता विशेष रूप से आचार, व्यवहार, भाषा तथा जीव-जगत-ईश्वर सम्बन्धी मान्यताओं को लेकर है। इस भिन्नता में सामान्य तत्त्व भी हैं, जों सारी मानव जाति के लिए समान हैं। इन सामान्य तत्त्वों के आधार पर ही सब धर्मों के लोग मिलजुल कर रहते हैं। विवाद उस समय पैदा होता है, जब एक धर्म के लोग दूसरे धर्म को हेय दृष्टि से देखते हैं। देखते ही नहीं, दूसरों को सहन करने के लिए तैयार नहीं होते। यह स्थिति धर्मोन्माद की ह। धर्मोन्माद आवेगों से परिचालित होता है और संख्या के आधार पर इसे बल मिलता है। धर्म की शक्ति संघशक्ति होती है और इसका नियंत्रण विश्वास के आधार पर होता है। यदि इसको राजनैतिक समर्थन प्राप्त है, तो यह संघशक्ति और बढ़ जाती है। उस स्थिति में धर्म को राष्ट्रीय रूप में अभिहित करने का प्रयत्न किया जाता है। इस तुलना में वे धर्म जिन्हें राज–नैतिक रूप में समर्थन प्राप्त नहीं होता, वे उपेक्षणीय रहते हैं। वे अपने धर्म का पालन वैयक्तिक अधिकार के नाते करते हैं और अपनी–अपनी संघशक्ति के आधार पर अपने अस्तित्व को बनाए रखते हैं। किसी भी धर्म पर चोट होती है तो संघ उसके पीछे खड़ा हो जाता है और अपने अस्तित्व के लिए लड़ता है। यहाँ तक कि पारिवारिक एवं समाज व्यवस्था का विधान धर्म के आधार पर बना हुआ ही व्यवहृत होता देखा गया है। उसकी व्यावहारिक उपयोगिता को देखकर सरकार स्वयं न्यायालय में न्याय की व्यवस्था धर्मशास्त्रों के आधार पर करती है। बहुत से पारिवारिक, वैवाहिक, सामाजिक, उत्तराधिकार सम्बन्धी एवं अन्य अनेक निर्णय धर्म के आधार पर निश्चित होते हैं। धर्म का यह शासन राजनैतिक शासन से भी अधिक कठोर है और इससे व्यक्ति अपने

को प्रतिबद्ध मानता भी है । धर्म के इस व्यापक और व्यावहारिक उपयोग को देखकर कोई भी राजनैतिक शक्ति यदि उसे अपनी शक्ति को बनाये रखना है, तो इस शक्ति की उपेक्षा नहीं कर सकती। इस स्थिति में धर्म का प्रभाव राष्ट्र के ऐतिहासिक–बोध को सीधा प्रभावित करता रहता है, यह माना जा सकता है ।

यहीं पर राजनैतिक व्यवस्था पर विचार किया जा सकता है । राज–नैतिक व्यवस्था (सरकार कोई भी हो) जिस आधार पर चलती रहती है, उससे राष्ट्रीयता प्रभावित होती है । राजतंत्र, सैनिकतंत्र अथवा लोकतंत्र हो, साम्य-वादी तंत्र या अन्य किसी प्रकार का तंत्र हो, सभी स्थितियों में राष्ट्रीयता अलग-अलग होगी । प्रत्येक तंत्र के अपने गुण-दोष हैं, जिनसे राजनीति के विद्यार्थी अच्छी तरह परिचित हैं । राष्ट्रीयता के संदर्भ में तंत्रविशेष का उल्लेख इसलिए आवश्यक है क्यों कि राष्ट्रीय नीति का निर्धारण इस तंत्र के विधान के अनुसार होता है ।

किसी राष्ट्र की सारी प्रवृत्तियाँ राजनैतिक प्रवृत्तियों से परिचालित रहती हैं किन्तु राष्ट्र की राजनैतिक प्रवृत्तियाँ राष्ट्र की अन्य प्रवृत्तियों (राष्ट्र के भीतर की अन्य प्रवृत्तियों) का परिणाम होती हैं । ऐसी स्थिति में किसी राष्ट्र के भीतर यदि राजनैतिक परिवर्तन होता है, तो यह परिवर्तन राष्ट्रीय परिवर्तन के रूप में देखा जाता है । बंगला देश के निर्माण में बंगला देश के भीतर चल रहे राजनैतिक संघर्ष का परिणाम है । पाकिस्तान का इतिहास बतलाता है कि पाकिस्तान का राजनैतिक तंत्र वहाँ की जनता को मान्य नहीं रहा । पूर्व और पश्चिम का यह भेद धर्म के आधार पर जुड़ नहीं सका । सैनिक तंत्र से जनता त्रस्त रही और तंत्र बदलने के आश्वासनों का परिणाम विफल देखकर पूर्व बंगाल मुक्त बंगला देश में परिवर्तित हो गया । यह सब लिखने का तात्पर्य यह है कि राष्ट्र के भीतर राष्ट्रीथता को बदलने के लिए (राजनैतिक व्यवस्था को बदलने के लिए) संघर्ष चलता रहता है । यह संघर्ष पूरे राष्ट्र के राजनैतिक व्यवस्था को बदलता है और साधारण रूप से सरकार को बदलने पर विवश करता है । अत: प्रत्येक राष्ट्र की सरकार इस बात के लिए प्रयत्नशील रहती है कि सामयिक राजनैतिक समस्याओं का सक्रिय समाधान प्रस्तुत करें । इस समाधान में यदि सरकार विफल हो जाती है तो राष्ट्र के भीतर ही संघर्ष छिड़ जाता है और सरकार इसमें उलझ जाती है । सत्ताधारी (सरकारी शासन से सम्बन्ध) शासन को स्थिर बनाये रखने के लिए प्रयत्न करते रहते हैं, जब कि सत्ता से बाहर रहनेवाले लोग शासन को

(सरकार को) बदलने के प्रयत्न में रहते हैं। यह संघर्ष चलता रहता है। इस संघर्ष में जो प्रवृत्तियां स्वरूप ग्रहण करती रहती हैं, उन प्रवृत्तियों का विश्लेषण राष्ट्रीयता के संदर्भ में ही किया जा सकता है। वास्तविकता यह है कि राष्ट्रीयता का व्यावहारिक रूप यही होता है। अतः जब राष्ट्रीयता का सम्बन्ध धर्म से या किसी अन्य तत्त्व से जोड़कर हम उसका विश्लेषण करने लगते हैं, तो हमारा ध्यान राष्ट्र की राजनैतिक प्रवृत्तियों की ओर ही जाता है।

राष्ट्रीयता और धर्म दोनों ही सामान्य रूप से व्यक्ति के नैतिक मूल्यों को प्रभावित करते रहते हैं। किसी राष्ट्र पर जब बाह्य रूप से आक्रमण हो जाता है या राष्ट्र अपने राष्ट्रीय मूल्यों के लिए उलझ जाता है, उस समय राष्ट्रीय मूल्य राष्ट्र में अधिक सजग रहते हैं। इस समय राष्ट्रीयता की दुहाई दी जाती है और जनजीवन में उत्सर्ग और त्याग की भावना जगाई जाती है। सामूहिक हित के लिए सब संघबद्ध होकर काम करते हैं और प्रत्येक नागरिक राष्ट्रीय मूल्यों की रक्षा के लिए अन्य मूल्यों को उपेक्षित करता है। इस स्थिति में राष्ट्रीयता को नैतिक मान मिलता है। इस समय में धार्मिक भेदभाव ही नहीं, अन्य प्रकार के सामाजिक भेदभाव भी भुला दिये जाते हैं। किन्तु यह स्थिति बहुत समय तक बनी नहीं रहती। बाह्य आक्रमण के समय में (विदेशी नीति के मामले में) राष्ट्र एक हो सकता है किन्तु राष्ट्र के भीतर राष्ट्रीय हितों पर जब विचार होता है और उस विचार में भी जब जनजीवन के हितों की घोषणा सरकार की ओर से होती है और उसका विपरीत परिणाम जब जनता अनुभव करती है, तो उस स्थिति में अन्य प्रवृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं। कहना यह है कि व्यक्ति को नैतिक मूल्य सदैव सरकार (कोई भी राष्ट्रीय सरकार) की ओर से प्राप्त नहीं होते। स्थायी रूप से नैतिक मूल्यों की प्राप्ति धर्म के द्वारा ही होती है। इन मूल्यों का प्रभाव व्यक्ति पर अधिक होता है। सरकार की शक्ति वैज्ञानिक साधनों की संघबद्ध शक्ति होती है। इस शक्ति के बल पर वह अपनी नीति को मनवाने का प्रयत्न भी करती है किन्तु जनता का मनोबल यदि ऊँचा है और यदि वह सरकार का सामना करने के लिए कटिबद्ध है, तो वह सरकार बदल देती है। यह सब कुछ राष्ट्र के अपने इतिहास-बोध पर निर्भर है।

धर्म के द्वारा नैतिक मूल्यों का बोध व्यक्ति को परम्परा रूप में प्राप्त होते हैं। इन मूल्यों को शिक्षा के क्षेत्र में अधिक मान्यता प्राप्त न होने पर भी (विज्ञान को मान्यता प्राप्त है) ये मूल्य परिवार और समाज के आधार पर तथा धर्मगुरुओं के आधार पर व्यक्ति को प्राप्त हो जाते हैं।

शिक्षा के द्वारा वैज्ञानिक मान्यताओं का बोध बढ़ा है और इससे राष्ट्रीय मूल्यों के प्रचार-प्रसार में सहायता मिल रही है। किन्तु इस शिक्षा के बावजूद मानवीय मूल्यों के लिए आज भी बहुत-बड़ा आधार धर्म ही है। शिक्षितों में (आज की शिक्षा के अनुसार) अधिकार बोध की भावना बढ़ी है। इस भावना ने राजनैतिक शक्तियों को चुनौती दी है और राजनैतिक शक्तियाँ इस अधिकार का समाधान तात्त्विक धरातल पर नहीं दे सकती। इससे असंतोष की भावना जनजीवन में बढ़ती जा रही है। ऐसी स्थिति में धर्म ही उन्हें फिर शान्ति प्रदान करने में सहायक हो सकता है। शिक्षा के कारण, वैज्ञानिक मान्यताओं के बोध के कारण धर्म पर से अब आस्था उठती प्रतीत हो रही है। एक प्रकार से धर्म के आधार पर आस्था की खोज में मानव संलग्न है, ऐसा कहा जा सकता है। एक ओर विज्ञान की शिक्षा जहाँ मनुष्य को प्रवृत्ति की ओर (अधिकार बोध की ओर) ले जा रही है, वहाँ धर्म की शिक्षा मनुष्य को (कर्तव्य बोध की ओर) त्याग की ओर या निवृत्ति की ओर ले जाती है। इन दोनों के सन्तुलन में जीवन है। व्यावहारिक दृष्टि से धर्म का नैतिक मूल्यों पर अधिक प्रभाव होने के कारण समाज में अलिखित विधान कार्यरत रहता है। लिखित विधान (संविधान) राष्ट्रीय मूल्यों का द्योतक है, जब कि अलिखित विधान धार्मिक विधान का द्योतक है।

ऊपर धर्म और राष्ट्रीयता दोनों का यह विश्लेषण सामान्य धरातल पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इस विश्लेषण में मानवीय मूल्यों की स्थिति को स्पष्ट किया गया है। राष्ट्रीय मूल्य किसी व्यक्ति को किसी राष्ट्र में उसी समय प्राप्त हो सकते हैं, जब कि वह उस राष्ट्र का नागरिक है। राष्ट्रीय मूल्यों की राजनैतिक सीमाएं हैं। इन सीमाओं के कारण मानवीय मूल्यों की हानि होती है। राजनैतिक सीमाओं को त्यागने के बाद मनुष्य के साथ जो मूल्य रह जाते हैं, वे धार्मिक मूल्य होते हैं और इस धर्म में सामान्य रूप से पाये जानेवाले मानवीय मूल्य ही प्रबल होते हैं। इन मानवीय मूल्यों की रक्षा अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनुसार भले ही होती हों किन्तु सच्चाई यह है कि व्यावहारिक धरातल पर धार्मिक मूल्य ही अधिक सहायक होते हैं। राष्ट्रीय मूल्य का सम्बन्ध राजनैतिक अधिकारों से है। इस अधिकार का बोध इतिहास बोध (राष्ट्र विशेष का अपना इतिहास-बोध) के आधार पर होता है। यह बोध आज आवश्यक ही नहीं अनिवार्य सा हो गया है। अब आवश्यकता इस बात की है कि इस बोध में आस्था के निर्माण के लिए प्रयत्न हो। राष्ट्रीयता धर्म से बद्ध होते हुए अपने साथ किसी विशेषण को नहीं जोड़ सकती। धर्म के सामान्य तत्त्वों को जिनका सम्बन्ध मानवीय मूल्यों से है,

उनसे सम्बद्ध होकर ही राष्ट्रीयता जनजीवन में आस्था का निर्माण कर सकती है। धर्म-निरपेक्षता का अर्थ धर्मरहित होना न हो। धर्म-निरपेक्षता का अर्थ भी धर्म के सामान्य मूल तत्वों से हो, उन मूल तत्त्वों से जो सब धर्मों से सम्बद्ध हैं। सापेक्ष धर्म नीति राष्ट्रीयता के लिये हानिप्रद है उसी तरह निरपेक्ष नीति भी हानिप्रद हो सकती है। इस निरपेक्षता से बच्चे के लिए तटस्थता की नीति के बजाय धर्म के सामान्य तत्त्वों के आधार पर आस्था के निर्माण की आवश्यकता है। भारतवर्ष ने इन पच्चीस बरसों में जो सफलताएं अर्जित की हैं, उसके पीछे धर्म–निरपेक्ष नीति है और इस नीति की सफलता का सब से बड़ा उदाहरण बंगला देश का निर्माण है। इस सत्य को विश्व के अन्य राष्ट्र अब स्वीकार कर रहे हैं।

साहित्य

राष्ट्रीय भावनाओं को व्यक्त करने वाला साहित्य, राष्ट्रीय साहित्य कहलाता है। इस प्रकार के साहित्य में देश प्रेम की भावना प्रबल होती है। क्षेत्र के प्रति रागात्मक भाव की अभिव्यक्ति इस प्रकार के साहित्य में होती है और इस तरह की रचनाएँ विशेष प्रकार की परिस्थितियों में लिखी जाती हैं। जब तक किसी जाति या संस्कृति का अन्य जाति या संस्कृति से संघर्ष नहीं होता तब तक इस प्रकार की रचनाएँ नहीं लिखी जाती। ऐसी स्थिति में जाति को एक करने के लिए देश की सभ्यता और संस्कृति का गुणगान कर उसके प्रति जन-जीवन में मोह पैदा किया जाता है और उसकी सुरक्षा में सामूहिक हित या कल्याण का भाव रखते हुए-जो आगे बढ़ता है, संघर्ष करता है और विजयी बन जाता है, वह जनता का श्रद्धा भाजन बन जाता है। राष्ट्रीय साहित्य में इसी प्रकार की चेतना का भाव होता है। साधारणतः राष्ट्रीय-साहित्य का यही अर्थ लिया जाता है। वीरों का गान, युद्ध-गीत, आत्मबलिदान की गाथाएँ, संस्कृति और सभ्यता का गुणगान, मातृभूमि के प्रति प्रेम की भावना के गीत आदि राष्ट्रीय साहित्य के अंतर्गत आ सकते हैं।

राष्ट्रीय साहित्य में परम्परा के प्रति मोह होता है। वह वर्तमान की अपेक्षा भूत की अधिक चिन्ता ही नहीं करता बल्कि उसकी सुरक्षा का आग्रह भी करता है। राष्ट्रीय साहित्य एक

प्रकार से जागरण का साहित्य है। जब देश या जाति अपने गौरव को भूलने लगती है, या उसका पतन होने लगता है या उसकी आत्मा को जबरदस्त धक्का लगता है तो राष्ट्रीय साहित्य का सृजन होना अत्यावश्यक हो जाता है। यही साहित्य उनमें सामूहिक उत्थान का भाव पैदा कर सकता है। अतीत की गौरव गाथाएँ उनमें फिर आत्माभिमान का भाव जाग्रत करती हैं। खोया हुआ बल उन्हें प्राप्त होता है और फिर वे आगे बढ़ने में समर्थ होते हैं।

साहित्य–कोश के अनुसार– "राष्ट्रीय साहित्य के अन्तर्गत वह समस्त साहित्य लिया जा सकता है जो किसी देश की जातीय विशेषताओं का परिचायक हो। इस प्रकार के साहित्य में जाति का समस्त रागात्मक स्वरूप उसके उत्थान–पतन आदि का विवरण आ सकता है। उसका होना एक प्रकार से अनिवार्य ही है।"[1] इस दृष्टि से साहित्य के प्रायः वे सभी ग्रन्थ जो किसी देश की सभ्यता, संस्कृति, धर्म आदि को व्यक्त करनेवाले हैं, राष्ट्रीय साहित्य के अन्तर्गत आ जाएँगे। राष्ट्रीय–साहित्य का यह अर्थ व्यापक रूप में होगा।

राष्ट्रीय-साहित्य की विशेषताएँ

१. राष्ट्रीय साहित्य किसी देश की सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक परम्पराओं से प्रेरणा लेकर उसके आधार पर राष्ट्र में चेतना पैदा करनेवाला साहित्य है।

२. राष्ट्रीय-साहित्य इतिहास की व्याख्या सामयिक परिस्थितियों के अनुसार करता है – विशेषतः राष्ट्र के हित को लक्ष्य में रखकर– इससे राष्ट्रीय भावना का विकास होता है।

३ राष्ट्रीय साहित्य-देश की वर्तमान सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक यथार्थ दशा का वर्णन करते हुए––देश के उद्धार या कल्याण की प्रेरणा देता है।

४. भूभाग (देश विशेष के), प्रजा, भाषा साहित्य आदि के प्रति अनुराग प्रकट करते हुए राष्ट्रीय भावनाओं को पुष्ट करता है।

---

१. हिन्दी साहित्य–कोश–(प्रथम संस्करण) पृ. ६५३

५. राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य निर्माण के प्रति उद्‌बोधन का भाव उसमें होता है।

६. राष्ट्रीय साहित्य में प्रधानतः आत्मसम्मान का भाव होता है और वह उस भाव को जाग्रत करना चाहता है

७. राष्ट्रीय साहित्य में देश या जाति को संगठित करने की शक्ति होती है—वह सांस्कृतिक भावना को उभार कर कर्म करने की प्रेरणा देता है।

८. साहित्यिक दृष्टि से राष्ट्रीय साहित्य वीररस प्रधान होता है

९. अभिव्यक्ति कौशल की दृष्टि से यह साहित्य भाषण कला के समान उद्‌बोधनात्मक होता है।

राष्ट्रीय साहित्य बनाम वीररस का साहित्य

राष्ट्रीय साहित्य की एक बडी विशेषता है सामूहिक उत्थान के लिए कर्म करने की प्रेरणा देना। कर्म के लिए उत्साह की आवश्यकता है। उत्साह वीर रसका स्थायी भाव है। अतः राष्ट्रीय साहित्य वीररस का साहित्य होता है। राष्ट्रीय साहित्य में देश प्रेम की भावना प्रबल होती है, अतः इस प्रकार के साहित्य में जहाँ देश के गौरव का गान होगा, उसकी गरिमा का वर्णन होगा, वहां श्रद्धा और भक्ति की व्यञ्जना होगी। इसी तरह जहाँ देश की दयनीय अवस्था का वर्णन होगा वहाँ करुणा की व्यञ्जना होगी। किन्तु इस प्रकार के वर्णनों के पीछे भी कवि का मूल उद्देश्य कर्म की प्रेरणा ही है क्यों कि कर्म समाज का पोषक है। अतः राष्ट्रीय साहित्य मूलतः वीर रस का साहित्य ही होता है। और रसों का वर्णन आनुषंगिक रूप में हो सकता है। राष्ट्रीय साहित्य में जहाँ भी देश पर मर मिटने की, देश के उद्धार या कल्याण की भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ उत्साह की प्रधान रूप से अभिव्यक्ति होती है। हाँ, एक बात ध्यान देने योग्य है—वीरता के वर्णन में अर्थात् उत्साह या कर्म में—देश के उद्धार की या सामूहिक उत्थान की या राष्ट्र की उन्नत भावना का होना आवश्यक है। तभी वीर रस का साहित्य राष्ट्रीय साहित्य कहलाएगा।

क्या राष्ट्रीय साहित्य सामयिक साहित्य है ?

राष्ट्रीय साहित्य समय की आवश्यकता से लिखा जाता है, इस दृष्टि से इसे सामयिक साहित्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है। उसका मूल्य अपने

समय में जितना होता है, उतना युगान्तर में नहीं। एक प्रकार से उसका मूल्य ऐतिहासिक हो जाता है। डॉ. देवराज लिखते हैं "वह साहित्य जो ऐतिहासिक महत्त्व को प्राप्त करता है, स्वभावतः युग जीवन के तत्त्वों से ग्रथित होता है—वह अपने समय के सामाजिक यथार्थ को प्रकट या प्रतिफलित करता हैं। साथ ही वह अपने जीवन का दिशा-निर्देश भी करता है, वह युग जीवन को बदलने का अस्त्र भी बन जाता है।"[१] डॉ. देवराज ने 'बदलने' की इस प्रेरणा का सम्बन्ध कलाकार और जनता में बदले हुए यथार्थ से जोड़ा है। राष्ट्रीय साहित्य में ये विशेषता होती है।

साहित्य युग की आवश्यकता की पूर्ति करता है। युग का प्रभाव दो रूपों में होता है—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। साहित्य में जहाँ व्यक्ति की भावात्मक समस्याओं और अनुभूतियों की अभिव्यत्त्कि होती है, वहाँ सामाजिक समास्याओं की अभिव्यक्ति भी होती है। प्रथम यदि मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणात्मक साहित्य है, तो द्वितीय सामाजिक साहित्य है। राष्ट्रीय साहित्य सामाजिक साहित्य का ही एक अंग है। वैयक्तिक समस्याओं और अनुभूतियों को लेकर लिखे जाने वाले साहित्य की अपेक्षा सामाजिक समास्याओं को लेकर लिखे जाने वाले साहित्य पर युग की छाप अधिक प्रत्यक्ष रूप में पड़ती है। राष्ट्रीय साहित्य में इस दृष्टि से युग का यथार्थ होता है।

प्रत्येक युग में सारा साहित्य सामायिक ही होता है। प्रायः अपने युग की समस्या को लेकर प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करनेवाले साहित्य को सामाजिक साहित्य कहते हैं। किन्तु व्यक्ति के सार्वजनीन भावों को व्यापक रूप से व्यक्त करने वाला साहित्य भी—चाहे वह किसी रूप में हो—युग धर्म से भिन्न नहीं होता। इतना ही है कि ऐसे सहित्य पर युगधर्म की छाप अप्रत्यक्ष रूप में पडती है।

सामाजिक और शाश्वत शब्द सापेक्ष हैं। सामयिक साहित्य का मूल्य क्षणिक ही होगा, ऐसी बात नहीं। यदि सामयिक समस्या को लेकर लिखी गई रचना मनुष्य के हार्दिक भावों को छू सकती है या उद्बोधन करने में वह समर्थ है तो उनका मूल्य युगान्तर में भी अवश्य होता है।

जिमरन के अनुसार—"राष्ट्रीयता का प्रश्न सामूहिक जीवन, सामूहिक विकास और सामूहिक आत्मसम्मान से सम्बद्ध है"[२] इस दृष्टिसे साहित्य

१. आधुनिक समीक्षा— डॉ. देवराज- पृ. १८

२. हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम संस्करण) पृ. सं. ६५३

का सम्बन्ध सामूहिक जीवन से होता है। आज के युग में राष्ट्रीय भावना का जो विकास हो रहा है, वह सामूहिक उन्नति चाहता है, भेदभाव को दूर कर के वह मानववाद का सन्देश देता है। राष्ट्रीय साहित्य सामूहिक रूप से सर्जनात्मक कर्म करने की प्रेरणा देता है। वह जनसमाज की इच्छाओं, संकल्पों तथा आकांक्षाओं में तात्विक समन्वय उपस्थित करता है। विशुद्ध रूप में राष्ट्रीय साहित्य इसी प्रकार का होना चाहिए। इस दृष्टि से जो साहित्य शिवं या लोककल्याण की भावना का समर्थन करनेवाला होगा उसका मूल्य सामयिक के साथ सार्वकालिक भी होगा।

(साहित्य—सन्देश आगरा, में अप्रैल १९६३ में 'राष्ट्रीय साहित्य' शीर्षक से प्रकाशित)

इतिहास

राष्ट्रीय भावना का उदय विश्व के इतिहास में सर्वप्रथम भारत में ही हुआ। राष्ट्र का सब से प्रथम उपादान है भौगोलिक सीमा का ज्ञान और उसके प्रति अनुराग। ये दोनों ही बातें हमें प्राचीन साहित्य में मिलती हैं, जो तत्कालीन राष्ट्रीय भावना को व्यक्त करती हैं। भारत के प्रायः सभी लोग देश की भौगोलिक एकता को स्वीकार करते थे। राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है-- "एक जाति के रूप में भारतवासियों ने अपने मातृदेश के भौतिक व्यष्ठित्व को बहुत पहले अनुभव कर लिया था। उन्हें वह आवश्यक मूर्त्त आधार पहले ही प्राप्त हो चुका था जिस पर राष्ट्रवाद की भावना का निर्माण किया जा सकता था।"[1] भौगोलिक एकता का अनुभव करते हुए यहाँ के निवासी अपनी मातृभूमि से प्रेम करते थे। स्वयं अथर्ववेद में मातृभूमि के प्रति ६३ भावुकतापूर्ण प्रार्थनाएं हैं। देशानुराग देशभक्ति की भावना तो थी ही इसके साथ-साथ इस देश के निवासियों मे आत्मसम्मान का भाव भी था। राष्ट्रीय भावना में आत्मसम्मान का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यही भावना उनमें और भावनाओं को बल देती है। राधाकुमुद मुकर्जी मनुस्मृति का आधार देते हुए लिखते हैं-- "हिन्दू अपने अन्तस्तल में यह विश्वास करते हैं कि उनका देश ईश्वर द्वारा विशेष रूप से चुना गया देश है, जहाँ लोग अंतिम मोक्ष के योग्य बनने के लिये पैदा होते हैं। यह उस विषय में

---

१. हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद--राधाकुमुद मुकर्जी--पृ. ४८।

राष्ट्रीय विश्वास को निरूपित करती है और मनुस्मृति का वह संदर्भ काव्य का रूपक मात्र नहीं है बल्कि सारे देश में व्याप्त और गहराई से अनुभव की जाने वाली राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति है। मातृभूमि को उसकी संतान सब जगह स्वर्ग से भी अधिक पवित्र और स्वय देवताओं के निवास के योग्य समझते हैं।"[1]

प्राचीन काल का भारत वर्णाश्रम की व्यवस्था में विश्वास करनेवाला था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब के अपने-अपने कर्म निश्चित थे। समाज व्यवस्था इसी प्रकार की थी। सामाजिक और धार्मिक नियमों के विधाता ब्राह्मण लोग थे और ये इस मामले में राजा महाराजाओं का हस्त-क्षेप नहीं चाहते थे। राजा महाराजा उनकी सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखते थे। राजा का धर्म ब्राह्मणों की सेवा करना व उन्हें इच्छित वस्तुएँ देकर प्रसन्न करना था। ऐतरेय ब्राह्मण में (ऐ. ब्रा. ८, १) कहा गया है कि जो नृपति ब्राह्मणों की श्रेष्ठता स्वीकार नहीं करेगा वह नष्ट हो जाएगा। ऐसी स्थिति में यह माना जा सकता है कि समाज में यह वर्ग शक्तिशाली था। सामाजिक विधान के बनाने वाले और धर्मशास्त्र के रचयिता यही लोग थे। इस काल की राष्ट्रीय भावनाओं को पुष्ट करने में इस वर्ग का महत्त्वपूर्ण योग रहा। समाज के सभी वर्गों के द्वारा इनका आदर होता था। ये एक राज्य से (इन दिनों के राज्य छोटे छोटे होते थे। महाभाष्य में निम्न देशों के नाम आये हैं-- अजमीढ़, अंग, अम्बष्ठ, अवन्ति, इक्ष्वाकु, उशीनर, ऋषिक, कडेर, कलिंग, कश्मीर, काशि, कुन्ति, कुरु, केरल, कोसल[2] ...आदि आदि) दूसरे राज्य में जाते और सब जगह दान दक्षिणा पाते थे। प्राय: ये लोग धर्म का प्रचार करते, अध्ययन और अध्यापन का काम करते या वैयक्तिक साधना। इस वर्ग ने धर्म के आधार पर भारतीय जनता में राष्ट्रीय भावना के विकास में अपना योग दिया है।

धर्म का राष्ट्रीय भावना से गहरा सम्बन्ध है। सच तो यह है कि धर्म की एकता की भावना ने ही भारतीय संस्कृति को अब तक जीवित रखा

---

१. हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद — राधाकुमुद मुकर्जी --पृ. २८।

२. धर्मशास्त्र का इतिहास--डा. पाण्डुरंग वामन काणे--द्वितीय भाग (हिन्दी समिति प्रकाशन) अनुवादक : अर्जुन चौबे काश्यप --पृ. ६४१।

--उक्त पुस्तक में इनके अतिरिक्त प्राचीन भारत के अनेक राज्यों के नाम दिये हुए हैं।

है। धर्म नैतिक कर्तृत्व का जनक है और धार्मिक नियमों का नैतिक अनुवर्तन वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को संगठित तथा शक्तिशाली बनाता है। डाक्टर विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने लिखा है—"मानव को क्षुद्रता तथा स्वार्थ के अतिक्रमण का संदेश तथा विशाल वृत्तों से तादात्म्य प्राप्त करने वाला कर्मयोग का संदेश भी धर्म से ही प्राप्त होता है। जब धर्म अहं भावोत्क्रमणकारी आत्मप्रसारणात्मक कर्मयोग का उपदेश देता है तब राष्ट्रवाद का वह व्यापक धरातल प्रस्तुत करता है,...... धर्म जातीय संस्कृति और परम्परा का रक्षण कर राष्ट्रवाद का ठोस आधार पुष्ट करता है।"[1] प्राचीन भारत की राष्ट्रीय भावना में धर्म का तत्त्व ही प्रबल था। फिर ये धर्म हिन्दू हो, बौध्द हो या जैन (उन दिनों भारत के यही प्रमुख धर्म थे।) इनमें हिन्दू धर्म का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण था। राजा महाराजाओं द्वारा इन धर्मों को प्रश्रय मिलता था। विश्वामित्र के आदेश पर महाराजा दशरथ को अपने लाड़ले राम को उनके साथ भेजना पड़ा। वशिष्ठ की आज्ञा से राजा दशरथ कार्य करते थे। ईश्वरसिंह बैस ने लिखा है—"प्राचीन भारत का राजा सामाजिक व धार्मिक संस्थाओं की मुहर मात्र होता था। किसी भी सुधार या मान्यताओं की स्थापना राजा के हाथ में नहीं होती थी और न ही यह राज्य के कार्यक्षेत्र में शामिल होती थी।"[2]

राजनैतिक दृष्टि से भारत एक न होने पर भी सांस्कृतिक दृष्टि से एक था। बात यह थी कि भारतीय संस्कृति ने राजनैतिक भावना को उतना अधिक महत्त्व नहीं दिया। (जितना आज दिया जा रहा है।) धर्म और संस्कृति के सम्बन्ध में भारत का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही बड़ा व्यापक रहा है। जीवन में उन्हीं का महत्त्व है। भारतीय जनता इस लोक की अपेक्षा परलोक को या मुक्ति की अधिक चिंता करती आई है। जीवन के विश्वासों के आधार भौतिकता की तुलना में आध्यात्मिकता के अधिक रहे हैं। इसी से उपनिषदों की रचना भारत में संभव हो सकी। राधाकुमुद मुकर्जी ने ठीक ही लिखा—"भारत का भारतवासियों की मातृभूमि के रूप में विकास ब्रह्मांड के उस प्रक्रम के अनुसार ही हुआ है, जो ब्रह्म को घट में और घट को ब्रह्म में प्रकट करता है। यहाँ कोई ऐसी संकीर्ण संस्कृति नहीं है जो सार्वभौमिकता से रहित हो और न कोई ऐसी कल्पित संस्कृति है जो आश्रयहीन और इसीलिये निष्फल हो।"[3]

---

१. राजनीति और दर्शन—डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा—पृ० २२१।
२. प्राचीन भारतीय शासन—ईश्वरसिंह बैस—सरिता, फरवरी—१९६२ पृ० ७६।
३. हिंन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद—राधाकुमुद मुकर्जी—पृ० ९०।

भारत की भौगोलिक एकता का उल्लेख पुराणों में है। भारतवर्ष हिमालय और दक्षिणी समुद्रों के मध्य के सारे भू-भाग को बताया गया है। इस देश भर में जगह-जगह तीर्थस्थान हैं। यह यहाँ की जनता के धार्मिक उत्साह का परिणाम है। मुकर्जी ने लिखा है- "तीर्थयात्रा की संस्था अंततोगत्वा मातृभूमि के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति है, यह देश की पूजा की लाक्षणिक हिन्दू रीतियों में से एक है"[1] तीर्थस्थानों का जाल भारत भर में उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम चारों ओर फैला हुआ है। ये इस बात का द्योतक हैं कि भारत की जनता अपनी मातृभूमि के प्रति पूज्य भाव रखती थी। धार्मिक पुण्य, आध्यात्मिक लाभ के साथ-साथ स्थान-प्रेम भौगोलिक महत्त्व की दृष्टि और कलात्मक अभिव्यक्ति के तत्त्व भी इसके कारणीभूत हैं।

राष्ट्रीय भावना के प्रसार में, राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति में, धर्म और संस्कृति के परिरक्षण में भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत भाषा भारतीय भाषाओं की जननी है और यही संसार की सर्वप्रथम समृद्ध भाषा है। इस भाषा के साहित्य में भारतीय राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति हुई है। भारतीय दृष्टि में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवन के लक्ष्य माने गये। इनमें से प्रत्येक विभाग का अपना-अपना साहित्य विकसित हुआ है। संस्कृत भाषा केवल साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं, विचार विनिमय वाणिज्य-व्यवसाय की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण रही। इसे साहित्यिक, धार्मिक महत्त्व तो प्राप्त था ही, लौकिक महत्त्व भी प्राप्त था। इसमें जो कुछ लिखा गया, वह देश भर में प्रामाणिक गया। संस्कृत की प्रामाणिकता पर आज भी भारतीय जनता की आस्था है। इस भाषा की महत्ता का ज्ञान इससे भी किया जा सकता है कि भारत की आधुनिक भाषाओं में तमिल को छोड़ कर अन्य सभी भाषाओं में संस्कृत की गहरी जड़ें जमी हुई हैं। एक दृष्टि से यदि इन भाषाओं मे से संस्कृत को हटा दिया जाय तो इनका अस्तित्व क्या रहेगा ? संस्कृत के बाद प्राकृत भाषाओं और तत्पश्चात् अपभ्रंश एवं देशी भाषाओं नें भी संस्कृत से शक्ति प्राप्त कर देश की परम्परा को बनाये रखने में एवं राष्ट्रीय भावना के वहन में अपना योग दिया है।

प्राचीन भारत की राष्ट्रीय भावना की विशेषताओं को अब संक्षेप में इस प्रकार से कहा जा सकता है :-

१. भौगोलिक एकता की अनुभूति राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक में थी।

---

१. हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद—राधाकुमुद मुकर्जी पृ. ३१

२. भारतभूमि के प्रति अनुराग, श्रद्धा और भक्ति का भाव यहाँ के निवासियों में था ओर साथ ही उससे सम्बध्द होने के कारण आत्माभिमान का भाव भी।

३. राष्ट्रीय दृष्टि से धर्म और संस्कृति का स्थान राजनीति से ऊंचा था। एक प्रकार से राजा लोग इसके संरक्षक मात्र थे।

४. तीर्थस्थानों की संस्था भारत की राष्ट्रीय भावना की मूर्त और सजीव अभिव्यक्ति रही जिसमें आत्मकल्याण, मानवमात्र के कल्याण के साथ–साथ देशानुराग और भौगोलिक एकता का भाव भी निहित था।

५. राष्ट्रीय भावना के परिरक्षण और प्रसारण में संस्कृत भाषा का महत्त्वपूर्ण योग रहा और इसके पश्चात् इसी की परम्परा में चलने वाली प्राकृत और अपभ्रंश भाषा ने भी समयानुसार अपने उत्तर–दायित्व को संभाला।

प्राचीन काल की राष्ट्रीय भावना में समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन हुआ। यद्यपि राष्ट्रीय भावना के मूलतत्त्व वही रहे किन्तु उस पर राजनीति का रंग धीरे–धीरे चढ़ने लगा। यवनों, शकों, कुषणों, हूणों-किरातों, अरबों-तुरकों तथा मुगलों के क्रम-क्रम से आक्रमण भिन्न–भिन्न उद्देश्यों से हुए और इसकी प्रतिक्रिया भी भिन्न भिन्न रूप में हुई जिसके विस्तार में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यहाँ इतना ही कहना अभिप्रेत है कि इन आक्रमणों के फलस्वरूप जब–जब भी यहाँ की राष्ट्रीय भावना को हानि पहुंचने की आशंका हुई तब–तब उसके प्रतिकार की चेष्टा देश भर में हुई है। यह पहले ही कह दिया गया है कि अब तक राष्ट्रीय भावना में राजनीति का स्थान इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था। डाक्टर पाण्डुरंग वामन काणे ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है— "धार्मिक दृष्टिकोण से (राजनैतिक दृष्टिकोण से नहीं) सभी ग्रथकारों ने भारतवर्ष या आर्यावर्त के प्रति भावात्मक सम्बन्ध जोड़ रखा था और सारे राष्ट्र को एक मान रखा था, इस तथ्य को स्वीकार करने में किसी को संदेह नहीं हो सकता। आज हम 'राष्ट्रीयता' शब्द का जो अर्थ लगाते हैं, उसके अनुसार प्राचीन भारतीय राष्ट्रीयता में हम शासन सम्बन्धी अथवा राजनैतिक तत्त्वका अभाव पाते हैं।"[१] मध्यकाल में भी

१. धर्मशास्त्र का इतिहास – डॉ. पांडुरंग वामन काणे – (द्वितीय भाग)–– पृ. ६४२

भारत में राष्ट्रीय भावना का स्वरूप प्रायः पुराना ही रहा। बाहर से होने वाले आक्रमणों के फलस्वरूप जो प्रतिक्रिया हुई वह सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में ही हुई। इस प्रतिक्रिया का उद्देश्य केवल राष्ट्रीय भावना की सुरक्षा मात्र था। जब सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रतिक्रिया से बाह्य शक्ति को हटाना कठिन हो गया तब फिर देश को राजनीति की ओर ध्यान देने की आवश्यकता भी हुई। इस्लाम की गद्दी दिल्ली में दृढ़ता के साथ स्थापित हो गई थी। यद्यपि ये पहले राजनैतिक रूप से स्थापित हुई थी और जिसमें यहाँ की जनता ने विशेष आपत्ति नहीं मानी थी तथापि कालान्तर में इस गद्दी पर विराजने वाले कुछ बादशाह ऐसे भी हुए जिन्होंने यहाँ की राष्ट्रीय भावना के मूलभूत तत्त्वों को हानि पहुँचाने की कोशिश की। अल्लाउद्दीन खिलजी इसी प्रकार का बादशाह था। बाद में औरंगजेब केसमय में ये स्थिति चरमावस्था पर पहूँच गई। एसी स्थिति में सामाजिक और धार्मिक प्रतिक्रिया राजनैतिक शक्ति के अभाव में कुछ नहीं कर सकती थी। अतः इस समय मेंराष्ट्रीय स्तर पर राजनैतिक प्रतिक्रिया का होना युग की आवश्यक मांग या पुकार थी। इस प्रकार की प्रतिक्रिया मध्यकाल के इतिहास में सर्वप्रथम महाराष्ट्र में हुई और इसके नेता छत्रपति शिवाजी थे। इस प्रतिक्रिया में योग देने वाले बुन्देले, जाट, राजपूत, सिक्ख आदि भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित थे।

डाक्टर सावित्री सिन्हा ने लिखा है-- "इस समय मध्यकालीन राजनैतिक व्यवस्था का आधार था व्यक्तिवादी निरंकुश राजतत्र। इस प्रकार की व्यवस्था में शासक ही राष्ट्र के भाग्य का विधाता, युगचेतना का नियामक तथा कुछ सीमा तक एक विशिष्ट जीवन-दर्शन का प्रतिपादक भी होता है। उसके सार्वभौम व्यक्तित्व में समस्त अधिकार केन्द्रित रहते हैं। जब शासक विजातीय हो तो इस वैयक्तिक तत्त्व की निरंकुशता और भी बढ़ जाती है। उसकी दृष्टि यदि समन्वयवादी न हुई तो शासक तथा शासित का सम्बन्ध केवल शोषक और शोषित का ही रह जाता है"[१] वास्तव में औरंगजेब का यही हाल था। व्यक्तिवादी राजतंत्र पर भारत की जनता का विश्वास था ही साथही दिल्ली का बादशाह ईश्वर के रूप में भी पूजा जाता था। वही भारत का सम्राट भी कहलता था। जनता की इस भावना की अभिव्यक्ति पंडितराज जगन्नाथ द्वारा हुई है। उन्होंने अपनी पुस्तक भामिनी-

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ६, रीतिबद्ध काव्य सं. डाक्टर नगेंद्र, पृ. १

बिलास में लिखा है। दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा। 'ऐसी बडी' शक्ति ने जब भारत की राष्ट्रीय भावना को हानि पहुँचाई तो उसकी प्रतिक्रिया निम्न रूप में हुई।

औरंगजेब के पूर्व अकबर के शासनकाल से ही या उससे कुछ पूर्व ही भक्ति की लहर देश के कोने-कोने में फैल गई थी। संतों, साधुओं, आचार्यों और भक्तों ने देश को मध्यकाल में यह समझाने का प्रयत्न किया कि भारत सांस्कृतिक दृष्टि से एक है। शंकराचार्य का नाम इनमें प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। बाद में भक्तों ने – जो केवल उत्तर में ही नहीं, महाराष्ट्र कर्नाटक, आन्ध्र आदि दक्षिणी भागों में भी—भी आचार्यों के इन विचारों को काव्य के माध्यम से जनता तक पहुँचाया। ज्ञान और भक्ति की तुलना में भक्ति को श्रेष्ठता का पद मिला। मानस के उत्तरकाण्ड और विनयपत्रिका में तुलसी ने इस पर विशेष प्रकाश डाला है। इसी तरह सूर का भ्रमरगीत-सार भी भक्ति को महत्त्व देता है। इस काल में आते-आते औरंगजेब ने देश में जागी हुई भगवद्भक्ति की दृष्टि से—जनता की भावनाओं पर कुठाराघात किया तो जनता पर तो इसकी प्रतिक्रिया हुई ही, संत समाज पर भी इसकी प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने भी यह अनुभव किया कि अब "हरि-स्मरण" से कुछ नहीं होगा। महाराष्ट्र में समर्थ रामदास ने दासबोध की रचना नए आलोक में युग की परिस्थितियों के अनुरूप की। पंजाब में भी गुरु गोविन्दसिंह ने नानक के दर्शन की व्याख्या इसी दृष्टिकोण से की। उन्होंने राजनैतिक जाग्रति को महत्त्व दिया।

इस काल की राष्ट्रीय भावना में सांस्कृतिक चेतना के साथ-साथ राजनैतिक चेतना भी सम्मिलित है। मुसलमानों के आगमन के बाद भारत की राष्ट्रीय भावना का ह्रास हो गया था। उनके अत्याचारों से ये दबी हुई भावना प्रतिक्रिया के रूप जाग्रत हुई। ये जाग्रति सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक रूप में क्रमशः होती गई और अन्त में इसकी परिणति राजनैतिक जाग्रति के रूप में हुई। सामाजिक जाग्रति का नायक इस युग में कबीर हुआ जिसने सारे पाखण्ड और बाह्याचारों का अपनी तीव्र वाणी से निषेध कर समाज को एक स्तर पर एक परमात्मा की छत्रछाया के नीचे लाने का प्रयत्न किया। सामाजिक सुधार के साथ-साथ धार्मिक भेदभाव को भुलाने के प्रयत्न भी इस युग में हुए। इस प्रयत्न में कबीर और अकबर के प्रयत्न अपना विशेष महत्त्व रखते हैं : कबीर वह प्रथम व्यक्ति है जिसने बाहर से आने वाली जाति को भारतीय स्वीकार कर लिया। कबीर की घोषणा ने

मुसलमानों का विदेशी जामा उतार दिया और उन्हें भारतीयता का पद प्रदान किया। राजनैतिक स्तर पर इसी कोटि का काम सम्राट अकबर ने किया। गोस्वामी जी ने भारत की प्राचीन संस्कृति को--संस्कृत भाषा का सहारा न लेकर लोकभाषा हिन्दी में--फिर से जीवित करने का प्रयत्न किया। तुलसी का दृष्टिकोण भारत की व्यापक राष्ट्रीय भावना को व्यक्त करने वाला दृष्टिकोण है। बाद में जब शासकों का दृष्टिकोण एकांगी हो गया और भारत की मूलभूत राष्ट्रीय भावना को कुचलने का प्रयास तलवार के बल पर होने लगे (औरंगजेब के काल में) तो राजनैतिक जाग्रति का होना आवश्यक हो गया। गुरु गोविंदसिंह और समर्थ रामदास ने राष्ट्रीय नवोत्थान में राजनैतिक चेतना को महत्त्व दिया।

समर्थ रामदास के दासबोध की विशेषताओं के सम्बन्ध में प्रो. भी. गो देशपांडे ने लिखा है– 'दासबोध में अन्य सन्तों के ग्रंथों की अपेक्षा अध्यात्म के साथ समयानुकूल एवं आवश्यक व्यावहारिक, सामाजिक, राजनैतिक, क्षत्रिय धर्म, उत्तम पुरुष, प्रयत्न, प्रारब्ध स्वधर्म पालन, सयानपन, मूर्खता या जड़ता निस्पृहता, चातुर्य उत्तम काव्य के लक्षण, लेखन इत्यादि जनजीवन सम्बन्धी विषयों का सरल और सुबोध वर्णन है जो पढ़ते ही बनता है।'[१] समर्थ ने राजनीतिपर बहुत बल दिया। उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि जब तक राजनैतिक जाग्रति नहीं होगी तब तक धर्म और संस्कृति की रक्षा संभव नहीं है। प्रो भी. गो. देशपांडे ने समर्थ के राजनैतिक दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए लिखा है – 'उनकी (समर्थ की) दृष्टि में राजनीति का अर्थ है सामाजिक प्रपंच, लोक व्यवहार और सामाजिक कार्य जिसमें आज की राज–नीति पूरी समा जाती है। इसी अर्थ में आपने दासबोध में सताईस स्थलों पर राजनीति का उल्लेख किया।'[२] राजनीति के क्षेत्र में वे उग्र और प्रगतिशील थे। समर्थ के इस स्वप्न को शिवाजी ने चरितार्थ किया। समर्थ रामदास ने जो क्रांतदर्शिता दक्षिण में दिखाई वही उत्तर में सिक्खों के दसवें गुरू गोविंदसिंह ने दिखाई। तत्कालीन राष्ट्रीय नवोत्थान में आपने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। आपके समान पंजाब में उन दिनों कोई राजनैतिक नेता न था। डाक्टर जयराम मिश्र ने लिखा है– "गुरू गोविंदसिंह जी धार्मिक नेता तो थे ही, साथ ही अपूर्व महान् राष्ट्रीय भी थे... इन्होंने सिक्खों को बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार का अमृत पिलाया। इन्होंनें आध्यात्मिक उपदेशों द्वारा सिक्खों

---

१. मराठी का भक्ति साहित्य– प्रो. भी. गो. देशपांडे–पृ. २०६।

२. वही, पृ. २१७।

के व्यक्तिगत अहंभाव को नष्ट कर दिया। इन्होंने सिक्खों के सम्मुख सेवा, त्याग और राष्ट्र प्रेम के आदर्श रखे ' [1] श्री रामधारीसिंह दिनकर ने भी लिखा है-- " औरंगजेब की धर्मांधता पर सब से विलक्षण टीका यह हुई कि उसके अन्याय से आहत होकर गुरू नानक का चलाया हुआ सिक्ख सम्प्रदाय जो शान्त भक्तों का सम्प्रदाय था खुल कर सैनिकों का सम्प्रदाय हो गया। " [२]

मध्यकाल में राजनैतिक दृष्टि से शक्ति प्राप्त कर प्राचीन भारतीय राष्ट्रीय भावना की रक्षा में यदि किसी ने प्रमुख रूप से योगदान दिया तो वे थे छत्रपति शिवाजी महाराज। शिवाजी का खुले रूप में वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार करना, राजगुरु (समर्थ रामदास) के आदेशों को पालना, अपने क्षत्रिय होने का दावा करना एवं प्राचीन भारतीय पद्धति से अपना राज्याभिषेक करवाना ये सब बातें उनके राजनैतिक आदर्श को प्राचीन भारत की राष्ट्रीय भावना से सम्बन्द्ध करने वाली हैं। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि सम्पूर्ण भारतवर्ष पर थी। जिन क्षेत्रों तक उनकी पहुँच नहीं हो सकी वहाँ पर भी जो इस आदर्श के पालन करने वाले थे, उनसे उन्होंने दोस्ती की। मिर्जा राजा जयसिंह को उन्होंने एक पत्र लिखा था-- " ओ महाराज, यद्यपि आप एक बड़े क्षत्रिय हैं तथापि अपनी शक्ति का प्रयोग बाबर के वंश की वृद्धि के लिए करते आये ह और रक्तवर्ण वाले मुसलमानों को विजयी बनाने के लिए हिन्दुओं का खून बहा रहे हैं। क्या आप इस बात को नहीं समझ पा रहे हैं कि इस तरह से आप पूरे जगत के सामने अपनी कीर्ति को कलंकित कर रहे हैं ? यदि आप मुझे जीतने के लिये आये हैं तो मैं आपकी राह में अपना सिर बिछा देने के लिये तैयार हूँ, पर चूंकि आप सम्राट् के प्रतिनिधि होकर आये हैं, इसलिये मैं इस बात का निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि आपके साथ कैसा व्यवहार करूं ? यदि आप हिन्दू धर्म की ओर से लड़ें तो मैं आपके साथ सहयोग करने और आपकी सहायता करने के लिए तैयार हूँ। आप वीर एवं पराक्रमी हैं। एक शक्तिशाली हिन्दू राजा की हैसियत से आपके लिये सम्राट् के विरुद्ध नेतृत्व ग्रहण करना ही शोभा देता है। आइए हम लोग चलें और दिल्ली के ऊपर विजय प्राप्त कर लें। हमारा मूल्यवान रक्त अपने प्राचीन धर्म की रक्षा और अपने प्यासे पूर्वजों को संतुष्ट करने के लिये बहे। यदि दो दिल मिल सकें तो वे कठोर से कठोर अवरोध को तोड़ कर फेंक देंगे। मुझे

---

१. श्री गुरुग्रंथ दर्शन-- डॉ. जयराम मिश्र, पृष्ठ २६ एवं २७।

२. संस्कृति के चार अध्याय-- श्री रामधारी सिंह दिनकर पृ. ३९४।

आपसे किसी प्रकार की शत्रुता नहीं है और मैं आप के साथ लड़ने का इच्छुक नहीं हूँ। मैं आपके पास अकेले आने और भेंट करने के लिये तैयार हूँ। तब मैं आपको वह पत्र दिखाऊंगा जो मैंने शाइस्ताखां की जेब से जबरदस्ती छीन लिया था। यदि आप मेरी शर्तें स्वीकार नहीं करते तो तलवार उद्यत है।"[१] कहते हैं छत्रसाल बुन्देला भी छत्रपति शिवाजी से प्रभावित हुए थे और वे दक्षिण में शिवाजी के पास कार्य करने के लिये आये थे। डॉक्टर भगवानदास गुप्त ने अपने शोधप्रबन्ध में लिखा है-- "छत्रसाल की प्रबल आकांक्षा शिवाजी के पास रह कर मराठों के स्वतंत्रता संग्राम में योग देने की थी। परन्तु शिवाजी इससे सहमत नहीं हुए। वे सारे भारत में हिन्दू पद पादशाही स्थापित करने के स्वप्न देख रहे थे। अत: महत्त्वाकांक्षी छत्रसाल को अपने यहाँ रहने देकर स्वराज्य के प्रयत्नों को दक्षिण तक ही सीमित रखना उन्हें अभीष्ट नहीं था। इसलिये उन्होंने छत्रसाल को बुन्देलखण्ड लौट कर मुगलों के विरुद्ध वहाँ भी स्वतंत्रता संग्राम कर स्वयं उसका नेतृत्व करने की मंत्रणा दी।"[२] सर देसाई ने भी लिखा है--"बुन्देला राजा छत्रसाल उनके (शिवाजी के) मित्र थे और उनसे सलाह लेने के लिये दक्षिण आये थे। शिवाजी के आगरे से निकल भागने के बाद उत्तरी भारत के चारण और कवि उनके दरबार में आये और उनका संरक्षण प्राप्त किया। ये सारी बातें शिवाजी के कार्य की अखिल भारतीय प्रवृत्ति की ओर संकेत करती है।"[३] आगे उन्होंने और भी स्पष्ट रूप से लिखा है--"परन्तु यह आदर्श राजनैतिक नहीं, धार्मिक था। शिवाजी तथा उनके अनुयायियों की प्रणाली का मुख्य उद्देश्य था--मुसलमानों के धार्मिक अत्याचारों अथवा हस्तक्षेप के बिना हिन्दुओं के धार्मिक रीति-रिवाजों के लिये पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना। दिल्ली के सिंहासन पर हिन्दू सम्राट् बैठाने का वहाँ कोई इरादा नहीं था।"[४]

उस युग के कवि भूषण ने शिवाजी के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है:-

"बेद राखे बिदित पुरान परसिद्ध राखे,
राम-नाम राख्यो अति रसना सुघर में।
हिंदुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
कांधे में जनेउ राख्यो माला राखी गर में।

---

१. मराठों का इतिहास-गोविंद सखाराम सरदेसाई - पृ. ६९
२. महाराजा छत्रसाल बुन्देला---डा० भगवान दास गुप्त-पृ० ३६ और ३७।
३. मराठों का इतिहास---सर देसाई---पृ० ७१
४. वही---पृ० ७१।

मोड़ि राखे मुगल मरोड़ि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे बरदान राख्यो कर में।
राजन की हद्द राखी तेगबल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में।" [१]

उस युग के राष्ट्रीय आदर्शों के अनुकूल भूषण ने कविता लिखी है। मध्यकाल तक धर्म और राजनीति में धर्म का स्थान राजनीति से ऊंचा रहा। धार्मिक नेताओं के अधिकार राजनैतिक नेताओं से अधिक रहे हैं। ऐसी स्थिति में उस युग की राष्ट्रीयता धर्म से ही अनुप्राणित होती थी।

आधुनिक काल में राष्ट्रीयता ने नया मोड़ लिया है। आज राष्ट्र शब्द से जो बोध होता है उसके मूल में किसी देश की राजनैतिक एकता का भाव है। श्री नर्मदेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी ने लिखा है- "राष्ट्र के लिये एक निश्चित भूखण्ड का होना अनिवार्य है जिसके आधार पर वह अपने राजनैतिक अस्तित्व का बोध करता है। उससे अपना आंतरिक लगाव का अनुभव करता हैं। इसी को केन्द्र मान कर भाषा, धर्म, संस्कृति तथा आर्थिक, सामाजिक और शासकीय व्यवस्था का राष्ट्रीय स्तर पर निर्माण होता है। इन सब के मूल में एकीकरण की भावना प्रधान होती है। इस प्रकार प्राकृतिक भौगोलिकता, एक इतिहास, एक भाषा, समान साहित्य और संस्कृति एवं समान मैत्री अथवा शत्रुता इन पांच सिद्धान्तों पर एकमत रहने की इच्छा से संगठित जनसमूह को राष्ट्र कह सकते हैं। [२] विश्व के इतिहास में इस प्रकार की भावना का उदय सर्वप्रथम फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के समय हुआ। इसी क्रान्ति ने स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व का पाठ विश्व को सिखाया। तब से यूरोप का राजनैतिक मानचित्र बदलता ही गया। भारत में इस प्रकार की विचारधारा का विकास विशेष रूप से १८५७ की क्रान्ति के बाद ही हुआ। आधुनिक राष्ट्रीयता की भावना प्रमुख रूप से विदेशी साम्राज्य-वाद के प्रति विरोध-प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। आधुनिक राष्ट्रवाद के जन्म के सम्बन्ध में बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा है -- "इसका (राष्ट्रवाद का) प्रारम्भ जॉन ऑफ आर्क के समय से माना जा सकता है। जब फ्रांसीसियों में अंग्रेजों की

---

१. भूषण--पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र--छ. स. ४२०।

२. राष्ट्र की उत्पत्ति और भारतीय राष्ट्रीयता - नर्मदेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी (ना. प्र. पत्रिका) वर्ष ६६, अंक २-३-४ मालवीय शती विशेषांक पृ. ४०७।

विजय के विरुद्ध सामूहिक प्रतिरोधात्मक भावना जाग उठी थी। अंगरेजी राष्ट्रवाद स्पेनी बेडे के प्रतिरोध के फलस्वरूप पैदा हुआ और कुछ ही वर्षों बाद इसकी ऐतिहासिक अभिव्यक्ति शेक्सपियर में हुई। जर्मन और रूसी राष्ट्रवाद का जन्म नैपोलियन के प्रति विरोध से हुआ। अमरीकी राष्ट्रवाद ब्रिटिश फौजियों के प्रतिरोध स्वरूप जन्मा। दुर्भाग्यवश, एक यह ऐसी मनोवैज्ञानिक प्राकृतिक गत्यात्मकता है जिसने प्रत्येक दशा में राष्ट्रवाद के विकास को अनुशासित किया है।"[१] इस दृष्टि से भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म भी नये दृष्टिकोण से १८५७ से ही माना जा सकता है। यह विदेशी साम्राज्यवाद के प्रति विरोध प्रतिक्रिया के रूप में ही हुआ। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास भारतीय राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति है। २६ जनवरी, १९३० को पूर्ण स्वाधीनता का प्रतिज्ञापत्र घोषित किया गया। उसकी पंक्तियाँ भारतीय राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय आदर्श को व्यक्त करनेवाली हैं। उस प्रतिज्ञा पत्र की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं — "हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्रों की भांति अपना यह जन्म सिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतंत्र होकर रहें, अपनीं मेहनत का फल खुद भोगें और हमें जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधाएँ मिलें जिससे हमें भी विकास का पूरा पूरा मौका मिले। हम यह भी मानते हैं कि अगर कोई सरकार ये अधिकार छीन लेती है और प्रजा को सताती है तो प्रजा को उस सरकार को बदल देंने या मिटा देने का भी हक है। हिन्दुस्तान की अंगरेजी सरकार ने हिन्दुस्तानियों की स्वतंत्रता का ही अपहरण नहीं किया है, बल्कि उसका आधार ही गरीबों के रक्तशोषण पर है और उसने आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे हिन्दुस्तान का नाश कर दिया है। इसलिए हमारा विश्वास है कि हिन्दुस्तान को अंगरेजों से सम्बन्ध विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य या मुकम्मल आजादी प्राप्त कर लेनी चाहिए।"[२] प्रतिज्ञा पत्र में आगे और भी लिखा गया है किन्तु ये पंक्तियाँ भी स्वतंत्रता की घोषणा को व्यक्त कर रही हैं। यह ठीक है कि इस समय पाकिस्तान के बनने का पूर्ण विश्वास नहीं था और न ही इस प्रकार की धारणा का जन्म ही इस समय हुआ था। यह बाद की बात है। मध्यकाल में भारतीय राष्ट्रीयता का रूप धार्मिक रहा। यद्यपि राष्ट्रवाद के आधार पर इस प्रकार की धारणा का अब कोई महत्त्व नहीं रह गया था किन्तु धार्मिक कट्टरता ने ही भारत के दो टुकडे कर दिये। राष्ट्रीयता का धार्मिक आधार इस युग में भी आकर क्षीण नहीं हो सका। गांधीजी के सभी प्रयत्न इस दिशा में विफल हुए। १५ अगस्त, १९४७

---

१. विवेक या विनाश–बर्ट्रेंड रसेल अनु : वीरेन्द्र त्रिपाठी–पृ. ६३।

२. मेरी कहानी––जवाहरलाल नेहरू (दसवां संस्करण) – पृ. ८५८

को भारत स्वतंत्र हुआ। नया संविधान बनाया गया जिसके अनुसार २६ जनवरी १९५० से भारतीय राष्ट्र को नया रूप प्रदान किया गया। आज हमारी राष्ट्रीयता का आधार हमारा संविधान है। संसद, मंत्रीमंडल और न्यायालय ये तीनों ही संविधान के अनुसार भारतीय राष्ट्रीयता के आदर्श के अनुसार देश का शासन कर रहे हैं और देश का सभी प्रकार से विकास करने के लिए प्रयत्नशील है। स्वतंत्रता के बाद चीन के आक्रमण ने हमको चेताया और हमें अपनी राष्ट्रीयता का बोध कराया। संसार में प्रथम बार हम भारतीय राष्ट्र की रक्षा के लिए उठ खडे हुए। इस समय के जागरण ने हमें राष्ट्रीय दृष्टि से संगठित होने की प्रेरणा दी। इसी का परिणाम यह हुआ कि दूसरी बार जब हमारी राष्ट्रीयता को ललकारा गया--भारत पाक युद्ध के समय तो भारत ने अपनी पूरी शक्ति का परिचय देकर अपने राष्ट्र की रक्षा की। इस समय देश भर में जिस एकता का अनुभव किया गया वह भारतीय राष्ट्रीय भावना का ही रूप था। इतिहास में प्रथम बार इस प्रकार देश ने संगठित रूप से मोर्चा लिया और इस में सफलता प्राप्त की। एकता की यह भावना बंगला देश के निर्माण में भी दिखलाई दी है। इसके कारण विश्व के राष्ट्रों में भारतीय राष्ट्र के प्रति सम्मान की भावना में वृद्धि हुई है।[२]

(सप्तसिन्धु, चण्डीगढ़ अक्तूबर १९६६ में 'भारत में राष्ट्रीय भावना का विकास' शीर्षक से प्रकाशित।)

---

२. अन्तिम दो वाक्य प्रकाशन के समय में लिखे गए हैं।

समस्याएँ

विश्व में आज प्रमुख रूप से एकता के मार्ग में बाधा डालने वाली दो प्रकार की विचारधाराएँ हैं, एक है लोकतांत्रिक विचारधारा और दूसरी साम्यवादी विचारधारा। इस मतभेद को छोड़ भी दें तो एकता में बाधक तीसरा प्रमुख कारण राष्ट्रीयता है। प्रत्येक राष्ट्र एक राजनैतिक शक्ति का द्योतक है। यह विचार करना कि सभी राष्ट्र एक हो जाएँगे और राष्ट्रीयता से ऊपर अन्तर्राष्ट्रीयता को मानवता के हित में ऊँचा स्थान दिया जायेगा अभी असंभव सा लगता है; यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना का उद्देश्य यही है। किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ का अब तक का इति-हास बहुत उज्ज्वल नहीं दिखाई देता। अभी जगत् में सारे देश स्वतंत्र रूप में राष्ट्र कहलाने के अधिकारी नहीं हो पाए हैं। बहुत से देश अब भी बहुत पिछड़े हुए हैं। कल यदि वे राष्ट्रों का रूप धारण भी कर लें तब भी राष्ट्रों में साँस्कृतिक अन्तर होगा। राष्ट्रीयता आज का युगधर्म है और यह युगधर्म प्रत्येक राष्ट्र का अपना धर्म है। इस युगधर्म का स्वीकार करते हुए राष्ट्र की समस्याओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है। समस्या का निदान यह है कि राष्ट्र के नागरिकों में एकता की भावना का निर्माण हो।

'राष्ट्रीय एकता' में राजनैतिक एकता का भाव प्रमुख रूप से है। आज जब भी हम राष्ट्र शब्द का उपयोग करते हैं,

तो हमारा ध्यान राजनीति की ओर चला जाता है। अतः राष्ट्रीय एकता के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें किसी राष्ट्र की राजनैतिक परिस्थितियों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। राजनैतिक परिस्थितियों के संदर्भ में राष्ट्र की परम्परा, इतिहास, संस्कृति, धर्म, भाषा आदि पर भी विचार किया जा सकता है। इन सब के आलोक में ही राष्ट्रीय एकता के साधक एवं बाधक तत्त्वों का विश्लेषण संभव हैं।

राष्ट्र के उपादानो में भौगोलिक उपादान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस दृष्टि से राष्ट्रीय एकता पर विचार करते समय राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं की ओर सर्वप्रथम ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक है। राष्ट्र की भौगोलिक सीमाएँ किसी राष्ट्र के भौतिक एवं स्थायी सम्पत्ति के अस्तित्व का द्योतक हैं। राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं की रक्षा होना सर्वप्रथम आवश्यक हैं। धरती का मोह सबसे बड़ा मोह है और उसके लिए राष्ट्र के नागरिकों को बलिदान करने के लिए सदैव उद्यत रहना चाहिए। राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं की रक्षा कौन करेगा? निश्चित ही इसका उत्तर राष्ट्र के रहनेवाले नागरिक होंगे। अब राष्ट्रीय एकता पर विचार करते समय राष्ट्र के नागरिकों पर विचार करना पडेगा। भौगोलिक सीमाओं (किसी राष्ट्र के) का निश्चय होने पर उन सीमाओं में रहने वाले नागरिकों को एकसूत्र में जोड़ने वाले तत्त्वों की और ध्यान देना होगा, जिससे कि राष्ट्र के नागरिक आपस में एक होकर रहें। वर्तमान स्थिति में, जैसे कि हम देखते हैं; राष्ट्र की भौगौलिक सीमाओं की रक्षा करने का काम राष्ट्र की सरकार करती हैं। किसी राष्ट्र की सरकार किसी राष्ट्र की सत्ता का अभिव्यक्त रूप हैं। यह सरकार राष्ट्र के संविधान के अनुसार शासन करती है और संविधान के प्रति उत्तरदायी रहती है। वास्तव में संविधान में राष्ट्र की व्यवस्था एवं राष्ट्र के आदर्श तथा राष्ट्रीय आवश्यकताएँ, मर्यादाएँ आदि का उल्लेख रहता है और तदनुसार राष्ट्र के नागरिकों के कर्तव्य एवं अधिकारों की उचित व्यवस्था भी संविधान में हैं। इस दृष्टि से संविधान की मर्यादाओं के पालन में राष्ट्रीय भावना का पालन होता है।

भारतवर्ष की भौगोलिक सीमाओं में रहनेवाले सभी भारतीय एक हैं। इस एकता का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि वैधानिक रूप से शासन व्यवस्था एक प्रकार की हो और वह भारतीय संविधान के अनुसार हो। इस व्यवस्था में जो बाधाएं उपस्थित होती हैं, वे बाधाएं राष्ट्रीय एकता में बाधक हैं अतः इस प्रकार की बाधाओं को दूर करना आवश्यक है। भारत का प्रत्येक नागरिक संविधान के अनुसार अपने अधिकारों का उपभोग सर्वत्र

(भारत की भौगोलिक सीमाओं के भीतर ही) कर सकें। यदि इस रूप में उसके (नागरिक के) अधिकारों में स्थान बदलने से (भारत के भीतर ही) अन्तर आता है तो यह असुरक्षा की भावना राष्ट्रीय एकता के लिए बहुत बडी बाधा है। प्रश्न यह है कि क्या आज भारत के नागरिकों की यह स्थिति है अर्थात् स्थान बदलने पर (भारत के भीतर ही) वे अपने को सुरक्षित अनुभव करते हैं? लंका में रहनेवाले भारतीय, या बर्मा में रहनेवाले भारतीय या पाकिस्तान में रहनेवाले भारतीयों के सम्बन्ध में यदि कोई प्रश्न उपस्थित हो तो यह बात समझ में आ सकती है क्यों कि लंका, बर्मा या पाकिस्तान की भौगोलिक सीमाएं अलग हैं और वहाँ की शासन व्यवस्था अलग है। किन्तु भारतवर्ष में इस प्रकार की भावना फैलने लगी तो राष्ट्रीय एकता खतरे में है, यह कहना पडेगा। एक प्रान्त का व्यक्ति दूसरे प्रान्त में सुरक्षा की भावना से रह सके, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए। समय रहते देश के नेताओं एवं कर्णधारों से यह अपेक्षा की जा सकती है कि राष्ट्रीयता के इस प्रश्न चिन्ह को और अधिक प्रबल रूप ग्रहण करने से पूर्व ही शान्त करने का प्रयत्न करेंगे।

किसी राष्ट्र का राजनैतिक विभाजन जिन आधारों पर होता है, वे आधार राष्ट्रीय एकता को बनाए रखने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं। भाषाओं के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया गया और इस पुनर्गठन के पीछे एक बड़ा उद्देश्य यह था कि एक भाषा बोलनेवाले अलग प्रान्त बना लेंगे और वहाँ के नागरिक उस भाषा के माध्यम से एक होकर रहेंगे। शासन व्यवस्था में इससे सुविधा हो सकती है। निश्चित ही इस प्रकार देश का राजनैतिक विभाजन करते समय भाषा को राष्ट्रीय एकता का आधार माना गया है। महाराष्ट्र, आन्ध्र, तमिलनाड, गुजरात, केरल, मैसूर, (कर्नाटक), उडीसा, बंगाल, आसाम, कश्मीर, पंजाब आदि प्रान्तों की भाषाएँ अलग अलग हैं। ये सभी प्रान्त भारत की सीमाओं को छूनेवाले प्रान्त हैं। मध्यप्रदेश की भाषा हिन्दी है। और इस दृष्टि से भाषा के आधार पर इन प्रान्तों का (राज्यस्थान, बिहार, मध्यप्रदेश एवं उत्तर प्रदेश) विभाजन नहीं किया गया। राजनैतिक विभाजन में कुछ प्रान्त ऐसे भी रह जाते हैं, जहाँ सीधे केन्द्र से शासन होता है और राजनैतिक व्यवस्था की दृष्टि से अभी वहाँ स्थिति संतोषजनक नहीं है। विशेष रूप से सीमाप्रान्तों के सम्बध में यह बात कही जा सकती है। नागालैण्ड, गोवा, पाण्डिचेरी, आसाम का कुछ भाग और इसी तरह कश्मीर भी अन्य राज्यों की तुलना में विशेष स्थिति रखते है। कहना यह है कि भारत के राज्यों में राजनैतिक विभाजन अब भी एकरूप

नहीं है। अतः राजनैतिक व्यवस्था को एकरूप देने की आवश्यकता आज भी है। नागालैंड, कश्मीर, आसाम, गोवा, हिमाचल प्रदेश तथा भारत के किसी भी प्रान्त में रहनेवाले नागरिक को समान रूप से राजनैतिक व्यवस्था का लाभ मिलना चाहिए।

राष्ट्रीयता का सम्बन्ध राजनैतिक एकता से है। इस एकता के साथ अन्य प्रकार की एकता, इस एकता को बनाए रखने में सहयोग दे सकती है किन्तु राजनैतिक एकता का बना रहना राष्ट्रीयता के लिये आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। राजनैतिक एकता के आधार पर ही किसी राष्ट्र का उत्थान हो सकता है और इस आधार पर ही उसकी सत्ता को अन्तराष्ट्रीय जगत में ख्याति मिल सकती है। इस समय भारतवर्ष में राजनैतिक विभाजन की चर्चा प्रबल है। अतः इस समस्या का राष्ट्रीय संदर्भ में विचार होना चाहिए। इसी दृष्टि से कुछ विचारणीय तथ्य प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

भारतवर्ष की स्वतंत्रता के साथ राजनैतिक विभाजन हुआ है। इस विभाजन ने एक राष्ट्र के दो टुकडे कर दिये और दोनों अलग अलग राष्ट्र हो गये। यह इतिहास है। जनता क्या चाहती है, यह प्रश्न अलग है किन्तु यह हुआ है। यह विभाजन धर्म के आधार पर हुआ। धर्म के आधार पर यह विभाजन कितना गलत साबित हुआ, इसका उदाहरण बंगला-देश का निर्माण है। बंगला-देश का निर्माण भारतबर्ष के तीसरे राष्ट्र का निर्माण है। स्थिति यह है कि इस परिवर्तन के बाद भी इस परिवर्तन को पाकिस्तान अब भी स्वीकार नहीं करता। इतिहास ने यह सिद्ध कर दिया कि धर्म के आधार पर राष्ट्र का राजनैतिक विभाजन गलत है। इस विभाजन के कारण संसार के इस भूखण्ड पर अशान्ति और आशंका का वातावरण व्याप्त है। इतिहास के इस घाव को भरने का प्रयत्न शिमला-समझौते ने किया किन्तु क्या यह घाव भर सका, यह भविष्य बतलाएगा। अस्तु।

अंगरेजों ने जब भारतवर्ष छोड़ा, उस समय भारतवर्ष राजनैतिक दृष्टि से अनेक भागों में विभाजित था। इस विभाजन को राजनैतिक दृष्टि से एकता के सूत्र में बाँधना राष्ट्र की प्रमुख समस्या थी। अंगरेजों के समय में देश का स्थूल रूप में दो भागों में विभाजन था। ब्रिटिश भारत और देशी राज्य। देशी राज्यों के सम्बन्ध में भगवानदास केला ने लिखा है-- "देशी राज्यों की एक बात बहुत जल्दी ही हमारा ध्यान आकर्षित कर लेती है, वह है, इनकी प्रतिक्रियावादिता या अपरिवर्तनशीलता......इनकी यह अपरिवर्तनशीलता यहाँ तक कि इसके कारण ये भारतीय राष्ट्र की एक अत्यन्त प्रतिक्रियावादी

शक्ति के रूप में सामने आते हैं। भारतवर्ष की स्वतंत्रता और प्रगति में देशी राज्यों की यह स्थिति बाधक है। देशी राज्यों की उन्नति के बिना भारतवर्ष उन्नत नहीं हो सकता।" [1] इसी पुस्तक में देशी राज्यों की संख्या बटलर कमेटी की १९२९ ई. की रिपोर्ट के आधार पर ५६२ दी गई है। [2] देशी राज्यों की यह संख्या राजनैतिक विभाजन की द्योतक है। भारतवर्ष के स्वतंत्र होने पर इस विभाजन का अन्त हो गया। देशी राज्य समाप्त कर दिए गए। कुछ प्रबल राज्यों ने अपने अस्तित्व का प्रयत्न किया, जिसमें कश्मीर भी एक है और इसके साथ विभाजित राष्ट्रीयता ने राजनैतिक समस्या का रूप ग्रहण किया और इस कारण दोनों राष्ट्रों में तनाव का निर्माण हुआ। हैदराबाद राज्य ने भी इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहा किन्तु वह सफल नहीं हुआ और शीघ्र ही हैदराबाद राज्य का विलय भारतीय गणराज्य में हो गया। इस इतिहास के दोहराने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। इसके पश्चात् भाषा समस्या सामने आई और इस आधार पर प्रान्तों की पुनर्रचना होनी चाहिए। भारतवर्ष बहु भाषी देश है और इस देश का विभाजन भाषाओं के आधार पर हो तो शासन में सुविधा होगी और यह माँग आन्ध्र प्रदेश से प्रबलतम रूप में सामने आई। परिणाम यह हुआ कि भाषाओं के आधार पर प्रान्तों को नया रूप दिया गया। हैदराबाद राज्य के इस समय तीन टुकडे हो गए। तेलगू भाषी हैदराबाद राज्य के जिले तेलंगाना के द्योतक हैं। मराठवाडा हैदराबाद राज्य के मराठी भाषी जिले हैं। इसी तरह कन्नड भाषी जिले मैसूर-प्रदेश में जोड दिए गए। गुजरात और महाराष्ट्र अलग हो गए। यह सब भाषाओं के आधार पर हुआ। यह १९५६ ई० की बात है। भाषा के आधार पर ही हरियाणा, पंजाब से अलग हो गया। जिस तरह धर्म के आधार पर भारत राष्ट्र का विभाजन गलत था, उसी तरह भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन भी गलत साबित हुआ। जिस आन्ध्र प्रदेश ने भाषा के आधार पर स्वतंत्र राज्य की माँग की, वह अब विभाजन के मोड पर है। इतिहास ने सिद्ध किया है कि भाषा के कारण वे एक नहीं हो सके। इस समय समस्या यह है कि देश का राजनैतिक विभाजन राष्ट्रीयता को किस रूप में प्रभावित करता है और इस एकता को बनाए रखने के लिए जनमत को कैसे बदला जाय ? इस दृष्टि से सोचने पर ही समस्या का निदान खोजा जा सकता है।

---

१. देशी राज्यशासन–भगवनानदास केला (प्रकाशन तिथि १९४२)–पृ. ११

२. वही –– पृ. ९

प्रश्न केवल आन्ध्रप्रदेश के विभाजन का नहीं है, इसके साथ साथ अन्य प्रदेश भी इस प्रकार की माँग कर सकते हैं। और जिस तरह भारतवर्ष देशी राज्यों के समय में (ब्रिटिश काल में) अनेक भागों में विभाजित था उस विभाजन को (अपने पुराने इतिहास की यादगार को जिलाए रखने की भावना से) प्रोत्साहन मिलना उचित है या नहीं, यह प्रश्न है। यह बात निश्चित है कि प्रत्येक प्रकार के विभाजन की माँग के पीछे कोई–न कोई तत्त्व है और यह सम्बन्धित स्थान के इतिहास से निष्पन्न है। यह सोचना कि देशी राज्यों के इतिहास को जनता भूल गई है, यह गलत है। अवसर पाकर विभाजन की प्रवृत्ति ऐतिहासिक कारणों से पनपती दिखलाई देती है। यह स्थिति केवल आन्ध्रप्रदेश में ही नहीं अन्य स्थानों पर भी निष्पन्न हो सकती है। इस सब के लिए आवश्यकता इस बात की है कि इतिहास–बोध बदलने का प्रयत्न हो।

इतिहास-बोध और राष्ट्रीयता

राजनैतिक विभाजन की बात तब पैदा होती है, जब इतिहास को विभाजित रूप में (विभिन्न इकाइयों के रूप मे) पढ़ा जाता हैं। राष्ट्र जब एक है, तो उसका राजनैतिक इतिहास भी एक है। इस बोध के आधार पर इतिहास पढ़ा जाना चाहिए। भारतवर्ष एक राष्ट्र है और उस राष्ट्र का भौगोलिक क्षेत्र राजनैतिक दृष्टि से एक है। इस दृष्टिकोण को सर्वोपरि रखते हुए सारे देश में इतिहास के प्रति समान दृष्टिकोण के अपनाए जाने की आवश्यकता है। इतिहास–बोध में विभाजन की प्रवृत्ति कार्य कर रही है तो अवसर पाकर वह प्रवृत्ति राजनैतिक समस्या का रूप ग्रहण करेगी। अत: समस्या उत्पन्न होने से पहले ही इतिहास के कारण जहाँ जहाँ विभाजन की प्रवृत्तियाँ दृष्टि–गोचर हो रही हैं, वहाँ वह पर इस प्रवृत्ति को बदलने के लिए ऐतिहासिक ग्रंथों को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से जनसमूह के सामने इस रूप में रखने की आवश्यकता है, जिससे राष्ट्र एकता की दिशा में आगे बढे। ब्रिटिश काल में, ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों की राजनैतिक स्थिति अलग–अलग रही है। इस अलगाव के कारण ब्रिटिश सत्ता ने यह अनुभव किया कि इस आधार पर भारतवर्ष में देशी राज्यों की सत्ता को बनाये रखना ब्रिटिशों के हित में है। सर जान मालकम ने कहा है –– " अगर हम सारे हिन्दुस्तान के अंगरेजी जिले बना दें तो कुदरती तौरपर हमारे साम्राज्य का पचास साल भी टिकना सम्भव न होगा। लेकिन अगर हम कुछ देशी रियासतें, बिना किसी तरह की राजनैतिक सत्ता के अपने साम्राज्य के औजारों की तरह कायम रख सकें तो हम तब तक हिन्दुस्तान पर अपनी हुकूमत कायम रख सकेंगे जब तक

कि योरप में हमारी समुद्री ताकत सबसे पऊर बनी रहेगी।"[1] यह विभाजन आज भी हमें प्रभावित करता है। देशी राज्यों के भारतीय गणराज्य में विलय के बाद भी वहाँ का (देशी राज्यों का) इतिहास-बोध, ब्रिटिश भारत के इतिहास-बोध से भिन्न है। अब जब भारतवर्ष का नया राजनैतिक मानचित्र बन गया है तो उस आधार पर समस्त राष्ट्र को इकाई मानते हुए तत्-तत् प्रदेशों को राजनैतिक इकाई के भीतर स्थान रख कर देखा जाना आवश्यक है। डॉ. रघुबीरसिंह ने -- 'पूर्व आधुनिक राजस्थान' इतिहास की पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक की सब से बडी विशेषता यह है कि 'राजस्थान' प्रान्त का जो अर्थ आधुनिक रूप में (भारतीय मानचित्र में) है, उसको इकाई मानकर राजस्थान के अलग-अलग राज्यों का (चाहे वह मेवाड़ हो, बीकानेर हो या जोधपुर या राजस्थान का अन्य कोई छोटा राज्य) इतिहास विभाजन की प्रवृत्ति को बचाते हुए, एकता के सूत्र को बनाये रखने की दृष्टि से लिखा गया है। इस इतिहास को पढ़कर मेवाड़-मारवाड़ और अन्य राज्य आपस में एकता की ओर बढेंगे। इसी तरह आज आवश्यकता इस बात की है कि हमारा आधुनिक भारत इस समय में राष्ट्ररूप जिस रूप में वर्तमान है और जिस अस्तित्व को संयुक्त राष्ट्रसंघ में स्वतंत्र राष्ट्र रूप में मान्यता प्राप्त है, उस रूप को ध्यान में रखते हुए इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता है और वह इतिहास सारे देश भर में, चाहे वह कोई प्रान्त हो समान रूप में पढ़ाए जाने की आवश्यकता है। यह कार्य कठिन है और इस विषय पर मतभेद होने की संभावना है किन्तु भारत राष्ट्र को एक मानकर इतिहास लिखा जाना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। यहाँ एक मानने से तात्पर्य भारत की राष्ट्रीय रूप में आज जो राजनैतिक सीमाएँ हैं, उनको स्वीकार करते हुए, एक माना जाना चाहिए। हम इतिहास से सीख लें। विभाजन की प्रवृत्ति ने हमारे देश की बहुत हानि की है। कम-से-कम अब इस विभाजन की प्रवृत्ति से बचें। शासकीय सुविधा के लिए या सांविधानिक कारणों से देश का विभाजन प्रान्तों के रूप में होता है, तो वह उचित है किन्तु उस विभाजन का विचार वैधानिक धरातल पर सोच-समझ कर किया जाना ही संगत होगा।

परतंत्र राष्ट्र अतीत को (अतीत के उस ऐतिहासिक काल को जिस समय वह स्वतंत्र रहा है) आदर्श मानता है। अतीत के स्वर्णिम युग को दोहराने का (फिर से स्थापित करने का) वह स्वप्न देखता है। ऐसा राष्ट्र अपने (परतंत्र राष्ट्र का वर्तमान) दासता से मुक्ति पाने का प्रयत्न करता

१. देशी राज्यशासन — भगवानदास केला (प्रकाशन तिथि १९४२) — पृ. ३१

रहता है। किन्तु जो राष्ट्र स्वतंत्र हो गया है उसके लिए अतीत अधिक आकर्षक नहीं होता. स्वतंत्र राष्ट्र का लक्ष्य नवनिर्माण की ओर होता है, उसका ध्यान वर्तमान पर अधिक केंद्रित होता है। भारतवर्ष स्वतंत्र है और उसका ध्यान नवनिर्माण की ओर है। इस दृष्टि से उपलब्धियाँ कम नहीं हैं। इन पच्चीस वर्षों में भारत का कायापालट हुआ है। इन उपलब्धियों में वैज्ञानिक उपलब्धियाँ भी हैं। निर्माण कार्य जारी है। इन सब का सम्बन्ध राष्ट्रीयता से है। उपलब्धि है तो राष्ट्रीय है और इसी तरह हानि है तो वह भी राष्ट्रीय है। हानि–लाभ का लेखा–जोखा प्रतिवर्ष प्रस्तुत किया जाता है और इससे हमारी राष्ट्रीय प्रगति का ज्ञान होता है। कहना यह है कि प्रगति का यह ज्ञान हमारी राष्ट्रीयता को दृढ करनेवाला हो। हमारी यह राष्ट्रीयता विश्व के अन्य राष्ट्रों के संदर्भ में एक प्रबल व्यक्तित्त्व का रूप ले और इससे प्रत्येक नागरिक में आत्मसम्मान का भाव बढे। नागरिकों में राष्ट्रीय बोध जितना व्याप्त होगा, उतनी ही हमारी राष्ट्रीयता दृढ होगी।

इधर जब से राष्ट्र स्वतंत्र हुआ है तब से राष्ट्रीय उपलब्धियों एवं ऐतिहासिक ज्ञान (राष्ट्रीय जागरण का इतिहास एवं वर्तमान राष्ट्रीय विकास का ज्ञान) की ओर ध्यान दिया जा रहा है। यहीं पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है और वह यह कि यह ऐतिहासिक ज्ञान अखिल भारतीय स्तर पर एक रूप में एवं राष्ट्रीय संदर्भ के रूप में दिया जा रहा है या नहीं ? राष्ट्रीयता का सम्बन्ध ऐतिहासिक बोध से होता है। राष्ट्रीयता में अन्तर आने का (देश के नागरिकों के बीच) एक बड़ा कारण यह भी है कि हमारा ऐतिहासिक बोध, राष्ट्रीय बोध से भिन्न है। राष्ट्र का नागरिक अपने ही देश के इतिहास को एकता की दृष्टि से अनुभव नहीं करता। यों कहिये कि नागरिकों में इतिहास के आधार पर वह सामान्य भावभूमि तैयार नहीं हो पाती जिससे राष्ट्रीयता मजबूत हो सकती। अतः इस दिशा में प्रयत्न होना आवश्यक है।

इतिहास में राजनैतिक व्यवस्थाओं का तथ्यात्मक आकालन होता है। वह विवरण होते हुए भी राष्ट्रीयता का आधार है। अतः इस प्रकार के ज्ञान की उपेक्षा कोई भी राष्ट्र अपने हित को दृष्टि में रहते हुए नहीं कर सकता। यह ज्ञान ऐतिहासिक बोध को समृद्ध करता है। किन्तु आज का विश्व वैज्ञानिकता के कारण छोटा होता जा रहा है और सम्बन्ध (एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से) बढते ही जा रहे हैं। अतः राष्ट्र का इतिहास ज्ञान विश्व के ऐतिहासिक ज्ञान के संदर्भ में जानना आवश्यक हो रहा है। अतः राष्ट्रीयता (किसी

राष्ट्र का जाग्रत ऐतिहासिक बोध) में आपसी स्वार्थों के कारण टकराव की स्थिति निर्मित होती है। इससे बचने के प्रयास में अन्य राष्ट्रों की राष्ट्रीयता से भी परिचित होना आवश्यक हो गया है। यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर बहुत विस्तार से लिखा जा सकता है। संसार में जितने राष्ट्र हैं उन सब की राष्ट्रीयता अलग अलग है। प्रत्येक राष्ट्र की राष्ट्रीयता का आधार वहाँ का इतिहास और वहाँ की राजनैतिक व्यवस्था है। इसी तरह संस्कृति, धर्म, भाषा भौगोलिक सीमा आदि भी राष्ट्रीयता के आधार माने गए हैं। किन्तु मुख्य रूप से हमारा ध्यान इन सब उपादानों को स्वीकार करते हुए भी राजनैतिक व्यवस्था और उस देश के इतिहास पर ही अधिक रहता है। इस अन्तर के कारण राष्ट्रीयता में अन्तर रहना स्वाभाविक है। सब राष्ट्रों की राष्ट्रीयता में अन्तर होने पर भी कुछ सामान्य लक्षण हैं जिनके आधार पर राष्ट्रीयता का सामान्य बोध दिखलाया जा सकता हैं। इस प्रकार की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हो सकती हैं।

१. प्रत्येक राष्ट्र अपने आपको एक स्वतंत्र इकाई मानता है।

२. प्रत्येक राष्ट्र की यह इकाई प्रमुख रूप से राजनैतिक व्यवस्था सम्बन्धी इकाई को स्वीकार करता है। अन्य राष्ट्रों के साथ उसका सम्बन्ध प्रमुख रूप से राजनैतिक स्तर पर होता है।

३. राष्ट्रीयता के अन्य प्रमुख आधार (राजनैतिक इकाई को छोड़ कर) धर्म, संस्कृति, भाषा एवं विचारधारा है। इन आधारों पर राष्ट्र एक होकर रहता है किन्तु इस एकता का मुख्य आधार राजनैतिक एकता ही है।

हम फिर लौटकर इतिहास की शरण में जाते हैं क्यों कि राष्ट्रीयता के सभी उपादानों का बोध हमें इतिहास के आधार पर होता है।

धर्म राष्ट्रीयता का मूल आधार रहा है और आज भी उसका प्रभाव कम नहीं है। इस आधार पर ही भारत की राष्ट्रीयता सन् १९४७ में दो भागों में खण्डित हुई। इसके बाद में पाकिस्तान-भारत के सम्बन्धों में जो समय समय पर परिवर्तन होता रहा और विवाद का मुख्य कारण कश्मीर बना हुआ है, उसने हमारी राष्ट्रीयता को बहुत प्रभावित किया है। कश्मीर की समस्या अब भी सिरदर्द है। बाद में पंजाबी सूबे की माँग धर्म के आधार पर राजनैतिक विभाजन की माँग थी। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसको बहुत

अधिक प्रोत्साहन जनमत के कारण प्राप्त नहीं हो सका। सब राज्यों में सभी धर्म के लोग रहते हैं और भारतीय संविधान में सब को नागरिक अधिकार प्राप्त हैं। अतः इस आधार पर राजनैतिक विभाजन नहीं हुआ। अपने अपने धर्म को मानने की स्वतंत्रता सब को प्राप्त है। धर्म जनसमुदाय को एक व्यवस्था में जोड़ने का प्रमुख आधार होने के कारण कभी-कभी ये भाव पनप जाते हैं और इससे राष्ट्रीयता खण्डित होती हैं। इसी आधार पर (एक धर्म में विश्वास करनेवाले) विभिन्न राष्ट्रो में रहने पर भी विभिन्न देशों के नागरिक अपने को एक अनुभव करते हैं। यह एक ऐसी समस्या है, जिसका प्रभाव विश्व के सभी राष्ट्रों पर हैं और जो राष्ट्र धर्म को अपना प्रमुख अंग मानते हैं, उनकी समस्याएँ भिन्न हैं। यहाँ कहना यह है कि धर्म के आधार पर देश का राजनैतिक विभाजन उचित नहीं। गान्धीजी ने इसीलिए प्राण दिए।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीयता शासन-व्यवस्था से अधिक प्रभावित होती है और इसी तरह राजनैतिक विचारधारा का भी उस पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव है। उदाहरण के लिए जनतंत्र की व्यवस्था जिन राष्ट्रों में है, उनसे भारत की राष्ट्रीयता अपना निकट सम्बन्ध रखना पसन्द करेगी। विश्व इस समय राजनैतिक विचारधारा की दृष्टि से दो भागों में बंटा हुआ है। जनतंत्र विचारधारावाले राष्ट्र अलग हैं और साम्यवादी विचार-धारावाले राष्ट्र अलग हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से राष्ट्रों में मध्य-कालीन राजतंत्र हैं, कहीं कहीं सैनिक तंत्र भी हैं। किन्तु राजतंत्र और सैनिक तंत्र दोनों ही राजनैतिक विचारधारा के—कम से कम जाग्रत राष्ट्रों के —प्रमुख अंग नहीं हैं। जनतंत्रात्मक विचारधारावाले राष्ट्रों में नागरिकों को विचार-स्वातंत्र्य के अधिकार प्राप्त हैं और वहाँ विभिन्न प्रकार की राजनैतिक पार्टियाँ समान रूप से अधिकारों का उपयोग कर सकती हैं और इसीलिए विचारों में मतभेद होते हुए भी जनमत का प्रभाव उन राष्ट्रोंपर बना रहता है और इस दृष्टि से इस व्यवस्थावाले राष्ट्रों की राष्ट्रीयता आपस में निकट का सम्बध अनुभव करती है। इसके विपरीत साम्यवादी राष्ट्र हैं। इसका जबर-दस्त प्रभाव रूस-चीन में दिखलाई दे रहा है। विचारों में इनमें दृढ़ता है और विरोधी दल की व्यवस्था इनमें नहीं है। यह समझा जाता रहा कि साम्य-वादी नीति सब राष्ट्रों में एक रहेगी और इनका विश्व संगठन दृढ़ रहेगा किन्तु इधर रूस-चीन के सम्बन्धों को देखकर साम्यवाद में भी नीति की दृष्टि से अन्तर दिखलाई दे रहा है। भारतवर्ष में इन राष्ट्रों की विचारधारावाले लोग और इनसे सम्बन्धित राजनैतिक पार्टियाँ हैं अतः हमारी राष्ट्रीयता इनसे भी प्रभावित होती है। किन्तु भारत में इनको जो अधिकार प्राप्त है, वह

जनतंत्र की व्यवस्थानुसार ही है। ऐसी स्थिति में ये पार्टियाँ अपनी सरकार बना भी लें तब भी अपनी नीतियों का पालन उस रूप में नहीं कर सकती जो चीन या रूस में संभव है या पश्चिमी राष्ट्रों में है। सार बात यह है कि हमारी राष्ट्रीयता आज राजनैतिक विचारधारा—जिनका सम्बन्ध राजनैतिक पार्टियों से विशेष रूप से है—से अधिक प्रभावित है। अतः इस आलोक में वर्तमान ऐतिहासिक संदर्भ में राष्ट्रीय एकता को परखना चाहिए। इस सम्बध में हमारी जानकारी जितनी अधिक होगी उसी रूप में हमारा राष्ट्रीय बोध एवं राष्ट्रीय जागरण सशक्त होगा।

डाक्टर गुलबराय ने राष्ट्रीयता की व्याख्या इस प्रकार की है-- "एक सम्मिलित राजनैतिक ध्येय में बंधे हुए किसी विशिष्ट भौगोलिक इकाई के जनसमुदाय के पारस्परिक सहयोग और उन्नति की अभिलाषा से प्रेरित भू-भाग के लिए प्रेम और गर्व की भावना को राष्ट्रीयता कहते हैं।"[1] राष्ट्रीयता का लक्ष्य सामूहिक उत्थान, सामूहिक विकास और सामूहिक हित है। राष्ट्रीयता एक दृढ़ रागात्मकवृत्ति है, जो राष्ट्र के नागरिकों में राष्ट्र के प्रति होती है। इसमें एक ओर जहाँ एकत्र रहने की सहज वृत्ति है, वहाँ निजी-रक्षा की वृत्ति भी है। भारतवर्ष अब स्वतंत्र है। उसका विकास अब स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में हो रहा है। भारत की राष्ट्रीयता का मूल आधार भारतीय संविधान है। हमारे संविधान में निहित आदर्श हमारी राष्ट्रीयता के आधार हैं। इन आदर्शों की स्थापना में राष्ट्र की सरकार और राष्ट्र की जनता दोनों के सहयोग की आवश्यकता है। हमारे संविधान के अनुसार भारत सम्पूर्ण प्रभुत्वसंपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य है। इसमें समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय प्रदान करने की स्वीकृति है इसके अनुसार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता तथा प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने का सब को अधिकार प्राप्त है। इन सब बातों के साथ साथ व्यक्तियों की गरिमा और राष्ट्र की एकता को सुरक्षित रखनेवाली बन्धुता बढ़ाने का दृढ़ संकल्प भी इसमें है। निश्चित ही इन आवश्यक आदर्शों की स्थापना में जो तत्त्व सहायक सिद्ध होंगे वे राष्ट्र-रक्षा के साधक तत्त्व होंगे। हमारा संविधान केवल लिखित रूप में ही नहीं रहे वह नागरिकों में मूर्त हो सके इसी के प्रयत्न में गतिशील प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

---

१. राष्ट्रीयता-- डा. गुलाबराय—पृ. २. (प्रथम संस्करण, १९६१.)।

बर्ट्रेंड रसेल ने मनुष्य के समस्त क्रिया-कलापों के दो स्रोत माने हैं: — आवेग और इच्छा। अत: किसी राष्ट्र के साधक तत्त्वों पर विचार करते समय यह देख लेना आवश्यक हो जाता है कि राष्ट्रीय जीवन के मूल आवेग क्या हैं? और साथ ही यह भी देखना आवश्यक है कि इच्छाशक्ति आवेगों को नियंत्रित कर रही है या उन्हें (आवेगों को) मार डालने का प्रयत्न कर रही है; कुचल रही है या सृजनात्मक कार्यों में प्रवृत्त कर रही है इसका विश्लेषण करना भी आवश्यक है।

आवेग का होना जीवन का द्योतक है। रसेल के शब्दों में– "जिस राष्ट्र में आवेग हों ही नहीं, उसके लिए कोई आशा रखना बेकार है। आवेग जीवन की अभिव्यक्ति है और जब तक आवेग बाकी हैं तब तक यह आशा की जा सकती है कि वह मृत्यु की ओर न जाकर जीवन की ओर हमें ले जाएगा। परन्तु आवेग न होना मृत्यु का परिचायक है, और मृत्यु में से नये जीवन का उद्भव असंभव है"[1] आवेग मनुष्य की शक्ति को अभिव्यक्त करनेवाली धारा है। इस धारा को जीवित रखना है और इसे सृजनात्मक रूप देते हुए आगे बढ़ाना है। जनजीवन में ऐसे आवेगों को जाग्रत करने की आवश्यकता है जो उन्हें न केवल निष्क्रियता से बचाए (क्योंकि निष्क्रियता मृत्यु है) बल्कि वे रचनात्मक कार्य में संलग्न हो सकें। इस दृष्टि से शिक्षा के अधिक से अधिक प्रसार की परम आवश्यकता है। हमारे भीतर सृजनात्मक आवेगों को जगाने और उन्हें उपयुक्त दिशा में मोड़ने का कार्य शिक्षा से ही संभव है। इससे हम अतीत की धरोहर रूप में प्राप्त संस्कृति की रक्षा कर सकेंगे। यह प्रसन्नता की बात है कि पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। किन्तु इस समय आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा सम्बन्धी नीति का निर्धारण राष्ट्रीय स्तर पर होना चाहिए। छात्रों को चाहे वे माध्यमिक पाठशालों में पढ़ते हों या विश्वविद्यालयों में, समस्त राष्ट्र में एक ही धरातल को आधार मान कर शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

हमारा देश अनेकता में एकता की संस्कृति में विश्वास करता आया है, अतः इस प्रवृत्ति को अधिक से अधिक प्रोत्साहन मिलना चाहिए। राष्ट्र की इच्छाशक्ति प्रबल और एकता का आधार लेकर चलने वाली हो। कलह संघर्ष या युद्ध का जन्म प्रमुख रूप से आवेगों के कारण होता है। आवेग

---

१. सामाजिक पुनर्निर्माण के सिद्धांत—बर्ट्रेण्ड रसेल—अनुवादक—मुनीश सक्सेना—पृ. १९।

तत्काल तृप्ति की मांग करते है और समाधान न मिलने पर उग्र रूप धारण कर लेते हैं। भावावेग को नियंत्रण में लाने के लिए किसी दूसरे भावावेग की ही आवश्यकता होती है। भावावेग विकल्पों मे नहीं, संकल्पों में समस्या का समाधान चाहते हैं। अतः स्थिति पर नियंत्रण पाने के लिए विवेक से काम करते हुए भी आवेगों को सकारात्मक या निर्माणात्मक दिशा में मोड़ देने की आवश्यकता है।

राष्ट्रीयता का आधार कहने के लिए राजनैतिक भले ही हो (वह है) किन्तु भावात्मक रूप में परम्परा से यह आधार सांस्कृतिक रहा है। राष्ट्रीयता का वह आधार आज भी उसी रूप में दृढ़ है। अब तो हमारा राष्ट्र धर्म-निरपेक्ष है। हमें इतिहास से सीख लेकर आज हमारे सांस्कृतिक जीवन का ऐसा चित्र फिर खड़ा करना है जो हमें जातीयता, प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता आदि से ऊपर उठा कर भारतीयता का बोध करा सके। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है--" भारत के समग्र इतिहास में हम दो परस्पर-विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों से काम करते देखते हैं। एक तो वह शक्ति है, जो बाहरी उपकरणों को पचाकर समन्वय और सामंजस्य पैदा करने की कोशिश करती है और दूसरी वह जो विभाजन को प्रोत्साहन देती है; जो एक बात को दूसरे से अलग करने की प्रवृत्ति को बढ़ाती है। इसी समस्या का, एक भिन्न प्रसंग में हम आज भी मुकाबला कर रहे हैं। आज भी कितनी ही बलिष्ठ शक्तियाँ हैं। जो केवल राजनैतिक ही नहीं, साँस्कृतिक एकता के लिए भी प्रयास कर रही हैं। लेकिन ऐसी शक्तियाँ भी हैं जो जीवन में विच्छेद डालती हैं, जो मनुष्य मनुष्य के बीच भेद-भाव को बढ़ावा देती हैं।"[१] निश्चय ही हमें पहली प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना है और दूसरी को कुचलना है।

'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल'— इस ओर ध्यान देने की आज परम आवश्यकता है, स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व निजी भाषाओं की उन्नति का कार्य राष्ट्रीय कार्य कहलाता था, किन्तु स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद इस प्रवृत्ति का ह्रास हुआ है। राष्ट्रीय धरातल पर देश भर में एक भाषा होने की आवश्यकता का अनुभव तो सभी करते हैं किन्तु संवैधानिक स्वीकृति के बावजूद भी अधिकारी वर्ग अभी इस दिशा में ठोस कार्य करने में कतरा रहा है। समस्या को टालने वाली प्रवृत्ति अधिक दिखाई दे रही है। इस प्रवृत्ति में

१. संस्कृति के चार अध्याय— रामधारीसिंह दिनकर—(तृतीय संस्करण)— प्रस्तावना —पृ. १२.

पूर्णतः सरकार को ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता। जनता को भी इस दिशा में कार्य करने की आवश्यकता है। नियम जब आपको कार्य करने की छूट दे रहा है तो फिर उस नियम का पालन करना चाहिए, कम से कम जिन क्षेत्रों में काम अपनी भाषा में हो सकता है और जिसमें कार्य करने की छूट सरकार की ओर से भी प्राप्त है उन क्षेत्रों में निजी भाषा में कार्य होना चाहिए। भाषा का प्रयोग केवल सरकारी कार्यालयों में नहीं होता। अनेक व्यावसायिक, सामाजिक, साँस्कृतिक एवं धार्मिक संस्थाएँ देश में काम कर रही हैं। कम से कम ये संस्थाएँ अपना काम क्षेत्रीय भाषाओं में कर सकती हैं। शिक्षण संस्थाओं में जितनी सुविधाएँ प्राप्त हैं कम से कम उनका लाभ उठाना चाहिए। पूर्व स्वीकृत छूटों का उपयोग करने के बाद अधिक सुविधाओं की माँग की जा सकती है और ऐसी माँग में पहले की अपेक्षा अधिक बल होगा। अतः देश-भर में आज निजी भाषाओं के प्रति एवं देश की एक भाषा हिन्दी के प्रति अनुकूल वातावरण पैदा करने की आवश्यकता है। अंग्रेजी के रहते भारतीय भाषाओं का विकास नहीं हो सकता। अब राष्ट्र की सरकार और राष्ट्र की जनता दोनों को ही इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। संवैधानिक स्वीकृति के बाद विलम्ब उचित नहीं।

व्यक्ति का विकास अन्य व्यक्तियों से सम्पर्क में आने पर ही हो सकता है। समान रुचि और सहज वृत्तियों की माँग व्यक्तियों को निकट लाने में सहायक होती है। इसी आधार पर संस्थाओं का निर्माण होता है अतः संस्थाओं का व्यक्ति के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। व्यक्ति की योग्यता संस्थाओं के माध्यम से व्यक्त होती है और इसी प्रकार व्यक्ति की योग्यता के कारण ही संस्थाओं को बल प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में देश के विकास में लगी हुई संस्थाओं को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। साथ ही इन संस्थाओं में व्यक्ति को अपना विकास करने के लिए अधिक से अधिक सुविधाएं मिलनी चाहिए। व्यक्ति में जो सृजनात्मक आवेग होते हैं, वे विकास के लिए अवसर और स्थान की प्रतीक्षा करते रहते हैं। सम्बन्धित संस्थाएँ उन्हें पनपने का अवसर दे सकती हैं। इससे व्यक्ति के साथ-साथ देश का भी विकास होता हैं।

विज्ञान की उन्नति के कारण रहन-सहन ही नहीं, जीवन के अनेक क्षेत्रों में बुनियादी परिवर्तन हो गया है। आज आर्थिक शक्तियाँ औद्योगिक संस्थानों में केन्द्रित हो गई हैं। इससे सामाजिक ढांचा पूरी तरह बदलता दिखाई दे रहा है। ऐसी स्थिति में जीवन–दर्शन की मान्यताओं में भी परिवर्तन हो रहा है। इस बदलते हुए युग में संस्थाओं को भी परम्पराओं का मोह छोड़ कर व्यक्ति

को युगानुरूप पनपने का अवसर देने के लिए भी तैयार होने की आवश्यकता है। मैक्स वेबर का कहना है कि —"धर्मों की रूढ़िवादिता व परम्परावाद न तो केवल काम की इच्छा से छिन्न-भिन्न किये जा सकते हैं, और न जनसंख्या वृद्धि से। ये तो केवल नये पैगम्बरों द्वारा नष्ट किये जाते हैं।" हमें मैक्स वेबर के इस निष्कर्ष से सीख लेनी है और नित्यप्रति के जीवन को भी ऊँचा उठाते हुए समाज में क्रांति उपस्थित करनी है। यह कार्य पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा हो रहा है। व्यक्ति की बुनियादी आवश्यकताओं को पूर्ण करने में राष्ट्र को समर्थ होना चाहिए। योजनाओं की सफलता और असफलता के गुण दोषों पर विवेचन होना चाहिए। जब तक हमारा राष्ट्र भीतर से दृढ़ एवं शक्तिशाली नहीं होगा तब तक अन्य राष्ट्र हमारी दुर्बलता का लाभ उठाते रहेंगे।

(साहित्य परिचय, राष्ट्रीय एकता विशेषांक; आगरा, जनवरी-फरवरी १९७० में, 'राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधाएँ' शीर्षक से प्रकाशित)

तथा कुछ अंश

(विश्व–ज्योति, होशियारपुर, मार्च १९६७ में 'राष्ट्र रक्षा के साधक तत्त्व' शीर्षक से प्रकाशित)